आध्यात्मिक दृष्टिकोण और अनंत आत्मबल

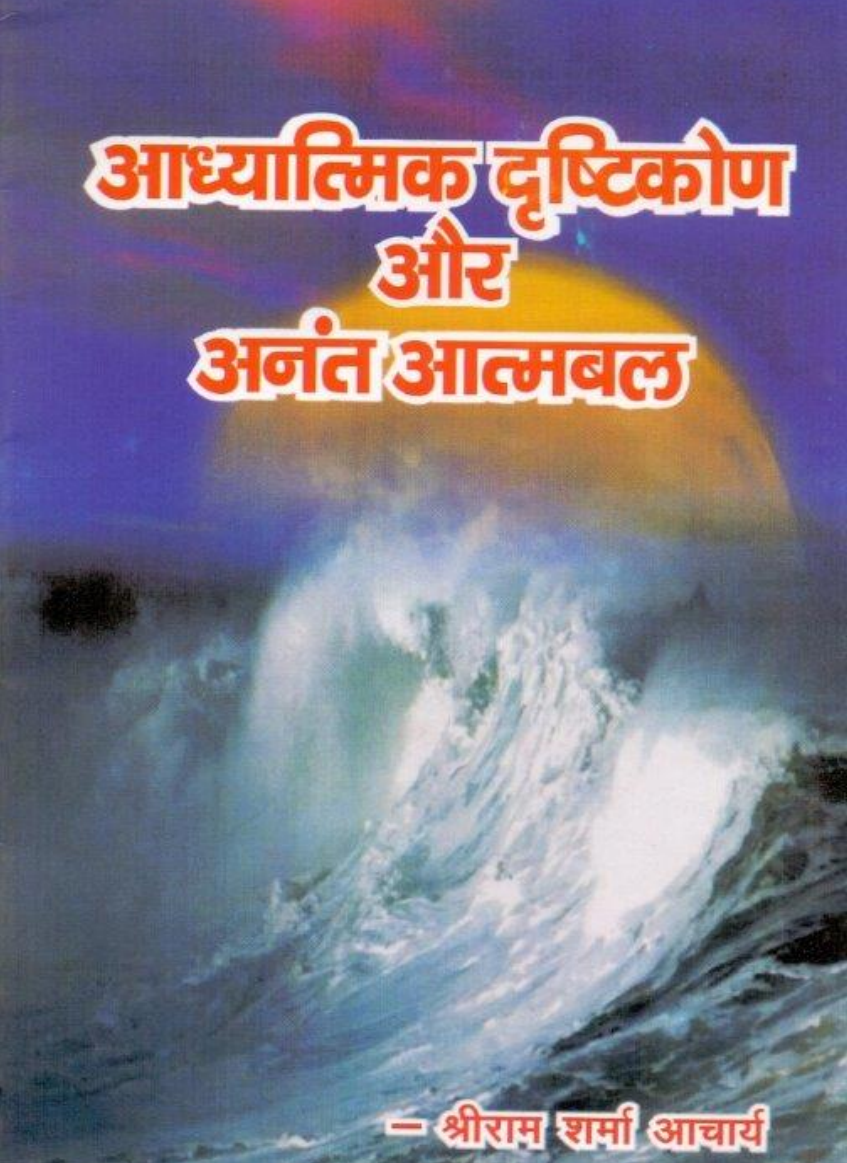

— श्रीराम शर्मा आचार्य

आध्यात्मिक दृष्टिकोण और अनंत आत्मबल

लेखक :

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २००९ मूल्य ९.०० रुपये

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

अध्यात्म साधना का परम लक्ष्य अपने दृष्टिकोण को खंड-खंडता, विभिन्नता, संकीर्णता से हटाकर सर्वत्र विश्वात्मा, परमात्मा की विराट सत्ता का दर्शन और उसकी अनुभूति प्राप्त करना है। जिस क्षण उस विश्वात्मा की अनुभूति प्राप्त होगी, उसी क्षण समस्त पाप, ताप, अभ्यासजनित संस्कार और आचरण का अंत हो जाएगा। अनंत आत्मबल विकसित होगा और सर्वत्र आनंदरूपी अमृत के ही दर्शन होंगे। इस अनंत आत्मबल और अनंत आनंद की उपलब्धि ही अध्यात्म दृष्टिकोण का सर्वोत्तम सत्परिणाम है।

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

अध्यात्म की मूल प्रेरणा एवं चरम लक्ष्य

हमारी आध्यात्मिक साधना का चरम लक्ष्य क्या है? यह उपनिषद् के निम्न वाक्य से स्पष्ट होता है–

ते सर्वगं सर्वतः प्राप्त धारा युक्तात्मानं सर्व मेवा विशन्ति।

धीरगण सर्वव्यापी को सकल दिशाओं से प्राप्त कर युक्तात्मा होकर सर्वत्र ही प्रवेश करते हैं। सर्व में प्रवेश करना, युक्तात्मा होना, उस विश्वात्मा की अनुभूति प्राप्त करना, ही हमारी साधना का लक्ष्य है। आत्मा द्वारा विश्वात्मा में प्रवेश करना ही आध्यात्मिक साधना की कसौटी है।

साधारण स्थिति में अथवा प्रारंभिक अवस्था में मनुष्य एक सीमित आवरण में आवृत होकर पृथ्वी पर विचरण करता है। जिस प्रकार एक अंडे में स्थित पक्षी का बच्चा पृथ्वी पर जन्म लेता है किंतु अंडे के आवरण में लिप्त हुआ जीवन–लाभ नहीं करता, ठीक इसी प्रकार साधारण स्थिति में मनुष्य एक अस्फुट चेतना के अंडे में आवृत होता है। उस समय वह अपनी उस क्षुद्र इकाई को नहीं देख पाता, जहाँ संकीर्णता होती है, खंडता होती है, विभिन्नता होती है। जिस प्रकार जन्मांध व्यक्ति विस्तृत संसार की जानकारी नहीं कर पाता, वह सोचता है शायद विश्व में और कुछ भी नहीं है, सर्वत्र अंधकार ही है किंतु यदि उसकी आँख ठीक हो जाए अथवा विशेष उपकरणों के उपयोग से उसे दिखाई देने लगे तो विस्तृत विश्व की झाँकी, संसार के क्रिया–कलापों को वह देख सकता है। विश्व–भुवन के वैचित्र्य की, जिसकी उसे अंधेपन की अवस्था में जरा भी जानकारी न थी, उसे देखकर वह सोचने लगता है–मैं इतने दिन तो इसी प्रकार कुछ नहीं समझते हुए घूमता रहा, आज मुझे इस संसार का दर्शन हुआ है। ठीक इसी प्रकार आत्मदृष्टि प्राप्त कर लेने पर होता है।

मनुष्य अपने आवरण में, अस्फुट चेतना के अंडे में खंडता, अनेकता के रंगीन चश्मे के परदे से जब अपने आप को निरावृत कर आत्मा द्वारा विश्वात्मा में प्रवेश कर लेता है, तब वह अपने विराट एवं सर्वव्यापी स्वरूप को सकल दिशाओं में प्राप्त कर युक्तात्मा बन जाता है। सर्वत्र प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त करता है। परमात्मा की परमसत्ता में प्रविष्ट होकर ही आध्यात्मिक साधना का चरम लक्ष्य प्राप्त होता है। आत्मा विश्वात्मा में मिलकर ही अनेक जन्मों की यात्रा पूरी करती है। यही मोक्ष, जीवन्मुक्ति, प्रभुदर्शन, आत्म-साक्षात्कार का वास्तविक स्वरूप है। जीव चैतन्य और विश्व चैतन्य की एकता, एकरसता प्राप्त कर लेना अध्यात्म जीवन की कसौटी है।

वह विश्व चैतन्य, विश्वात्मा क्या है? इस पर उसकी अनुभूति प्राप्त करने वाले उपनिषद्कार कहते हैं-**'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक स्तेनेद पूर्ण पुरुषेण सर्वम्।'** अर्थात वृक्ष की भाँति आकाश में स्तब्ध हुए विराज रहे हैं वही एक। उस पुरुष में उस परिपूर्ण में यह समस्त ही पूर्ण है।

यथा सौम्यं वयाँसि वासो वृक्षं संप्रतिष्ठन्ते।
एव ह वै तत् सर्व पर आत्मनि संप्रतिष्ठिते॥

हे सौम्य! जिस प्रकार वास वृक्ष में पक्षी आकर स्थित होते हैं, निवास करते हैं, वैसे ही यह जो कुछ है समस्त ही परमात्मा में प्रतिष्ठित हुआ रहता है।

परमात्मा की विराट सत्ता ही सर्वत्र व्याप्त है। यह सारा दृश्य जगत उसी में स्थित है। जब आत्मा उस विश्वात्मा की अनुभूति प्राप्त कर उसी में लीन हो जाती है, जब जीव चैतन्य और विश्व चैतन्य में एकाकार स्थापित हो जाता है, तभी अनिर्वचनीय आनंद की प्राप्ति होती है। उस प्राप्ति में ही जीवन का सौंदर्य है, शांति है, मंगल है, अमृत है। उस विश्वात्मा की, जो सर्वत्र ही व्याप्त है, अनुभूति प्राप्त कर मनुष्य निर्भय होकर विचरण करता है। सर्वत्र उसी के दर्शन करता है, तब उसे दूसरा कुछ और दिखाई ही नहीं देता।

हम जीवन को तथा विश्वात्मा के विराट स्वरूप को खंड-खंड करके देखते हैं। हम आत्मदृष्टि से न देखकर स्थूल से देखते हैं और खंडता, विभिन्नता को प्रधानता देते हैं। मनुष्य को हम आत्मा द्वारा न देखकर इंद्रियों द्वारा, युक्तियों द्वारा, स्वार्थ, संस्कार और संसार द्वारा देखते हैं। अमुक वकील है, डॉक्टर है, संत है, दुष्ट है, नीच है, दयालु है, कुरूप है, सुंदर हैं आदि निर्णय दे हम मनुष्य को विशेष प्रयोजनयुक्त अथवा विशेष श्रेणीयुक्त के आकार में देखते हैं। यहाँ हमारी परिचय शक्ति रुक जाती है। इस संकीर्ण आवरण के कारण हम आगे प्रविष्ट नहीं होते। इस खंडता, विभिन्नता में ही हम अपने को रक्षित समझते हैं। हमारे विषय प्रबल हो उठते हैं। धन, मान, पद, प्रतिष्ठा हमें तरह-तरह से नाच नचाते हैं। हम दिन-रात ईंट, काठ, लोहा, सोना इकट्ठा करने में लगे रहते हैं; द्रव्य सामग्री संग्रह करने का अंत नहीं होता। जीवन के शेष दिन परस्पर की छीना-झपटी मारकाट अपने प्रतिवेषियों के साथ निरंतर प्रतियोगिता में बीतते हैं। इस खंडता में दु:ख, अशांति, क्लेश, उद्वेग, नाटकीय यातनाओं का भारी बोझा लादे हुए जीवनपथ पर चलना पड़ता है और इनका तब तक अंत नहीं होता, जब तक हमारी दृष्टि इन नानात्व से हटकर सर्वात्मा की ओर नहीं लगती। कहा भी है–**मृत्योः च मृत्यु माप्नोति य इह नानेव पश्यति'** अर्थात जो उसे नाना करके खंड-खंड करके देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता।

येना हं नामृत स्यां किमहं तेन कुर्यान।

अध्यात्म पथिक कहता है, "जिसके द्वारा मुझे अमृत की प्राप्ति न हो उसे लेकर मैं क्या करूँगा?" जो बँटा है, विच्छिन्न है, खंड-खंड है, वही मृत्यु के द्वारा आक्रांत है। अत: इसका त्याग आवश्यक है और उस विश्वात्मा की अनुभूति उस परमपुरुष, परमसत्ता, जिससे परिपूर्ण यह समस्त ही पूर्ण है उसे वरण करना, आत्मा का–जीव चैतन्य का प्रधान धर्म है। यही परम गति है–

एसास्य परमागतिः एसास्य परमा सम्पद्।
ऐसोअस्य परमो लोकः एसोअस्य परम आनन्द॥

वह परमात्मा ही जीवों की परम गति है, परम संपदा है, वह ही जीवों का परम लोक एवं परम आनंद है।

ऐस सर्वेश्वर एस भूताधिपतिरेस भूतपाल।
एस सेतुविधरणा एसां लोकानाम सम्मेदाय॥

यह परमात्मा ही सबका ईश्वर है, समस्त जीवों का अधिपति है और समस्त जीवों का पालनकर्त्ता है। यह विश्वात्मा ही सेतु स्वरूप होकर समस्त लोक को धारण करके ध्वंस से उसकी रक्षा करता है।

अध्यात्म साधना का परमलक्ष्य अपने दृष्टिकोण को खंड- खंडता, विभिन्नता, संकीर्णता से हटाकर सर्वत्र उस विश्वात्मा, परमात्मा की विराट सत्ता का दर्शन और उसकी अनुभूति प्राप्त करना है। मनुष्य के लिए यही सत्य और सनातन राजमार्ग है। जब जाति, गुण, कर्म, स्वभाव, संस्कार आदि समाप्त हो जाते हैं। मानव-मात्र में आत्म दृष्टि से देखने पर सर्वत्र उस विश्वात्मा की प्रतिष्ठापना के दर्शन होते हैं। इतना ही नहीं, प्राणि मात्र वृक्ष-वनस्पतियाँ, जड़-चैतन्य में उसी परम शक्ति का क्रिया-कलाप दिखाई देता है तभी अनिर्वचनीय आनंद की प्राप्ति होती है। जिस क्षण उस विश्वात्मा की अनुभूति प्राप्त होगी, उसी क्षणं समस्त पाप, ताप, अभ्यास-जनित संस्कार और आचरण का अंत हो जाएगा। अनंत आत्मबल विकसित होगा और सर्वत्र आनंदरूपी अमृत के ही दर्शन होंगे।

इस अनंत आत्मबल और अनंत आनंद की उपलब्धि ही अध्यात्म दृष्टिकोण का अत्युत्तम, सर्वोत्तम सत्परिणाम है।

❐

अनंत शक्ति का स्त्रोत—अध्यात्म उसकी प्रक्रिया एवं स्वरूप

अध्यात्म विज्ञान, आध्यात्मिक साधनाएँ इतनी सामर्थ्यवान, प्रभावशाली हैं कि उनके द्वारा भौतिक विज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण सफलताएँ उपलब्ध की जा सकती हैं। हमारे देश में अनेक ऋषियों-महर्षियों, संत-महात्माओं, योगी-यतियों का जीवन इसका प्रमाण है। बिना साधनों के उन्होंने आज से हजारों वर्ष पूर्व अंतरिक्ष, पृथ्वी, सूर्य, चंद्रमा आदि के संबंध में अनेकों महत्त्वपूर्ण तथ्य खोज निकाले थे। अनेकों विद्याएँ, कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान में उनकी गति असाधारण थी। बड़े-बड़े राजमुकुट उनके पैरों में झुकते थे। लेकिन अपनी अध्यात्म साधना के समक्ष वे सब कुछ महत्त्वहीन समझते थे और निरंतर अपने ध्येय में संलग्न रहते थे।

आज उन्हीं अध्यात्मवेत्ताओं के देश में इस महान विज्ञान की जितनी दुर्गति हुई है, उस पर किसी विचारशील व्यक्ति का दुखी होना स्वाभाविक ही है। अध्यात्म विज्ञान के प्रति आजकल हमारे मूल्यांकन की कसौटी, परिचयप्राप्ति के ढंग इतने बदल से गए हैं कि हम अध्यात्म विद्या से बहुत दूर भटक गए हैं। इसके वास्तविक मर्म को न जानने के कारण अध्यात्म के नाम पर बहुत से लोग जीवन के सहज पथ को छोड़कर अप्राकृतिक, असामाजिक, उत्तरदायित्वहीन जीवन बिताने लग जाते हैं। गलत, अस्वाभाविक जीवनक्रम के कारण कई बार शारीरिक अथवा मानसिक रोगों से पीड़ित हो जाते हैं।

आज आध्यात्मिक जीवन बिताने का अर्थ जनसाधारण में लोक-जीवन को उपेक्षित मानने से होता है। अकसर लोगों में यह धारणा भी कम नहीं फैली है कि 'यह संसार क्षणभंगुर' है, 'माया है' 'इसका त्याग करने पर ही मोक्ष-कल्याण की मंजिल प्राप्त हो सकती है।' इसी धारणा से प्रेरित होकर बहुत से लोग अपना कर्त्तव्य, अपनी जिम्मेदारियाँ छोड़ बैठते हैं। अपना घर-बार छोड़ बैठते हैं। लेकिन

यदि घर-गृहस्थी को छोड़ना, अपने कर्त्तव्यों से मुँह मोड़ना ही आध्यात्मिक पथ पर बढ़ने का प्रथम चिह्न है तो सारे ऋषियों को हमें आध्यात्मिक इतिहास से हटाना पड़ेगा। क्योंकि प्रायः सभी ऋषि-महर्षि गृहस्थ थे। जनसाधारण का स्वाभाविक सहज जीवन बिताते थे। गुरुकुल पाठशालाएँ चलाते थे। जनता के धर्मशिक्षण का दायित्व पूरी तरह निभाते थे।

ऋषियों ने संन्यास आश्रम की व्यवस्था करके घर छोड़ने की बात भी कही थी लेकिन जीवन के शेष चौथे भाग में, वृद्धावस्था में वह भी मुक्ति के लिए नहीं, अपितु जीवनभर अर्जित ज्ञान से समाज को लाभान्वित करने, परमार्थ का जीवन बिताने के लिए। सांसारिक दृष्टि से भी धर्म-अर्थ-काम के बाद फिर मोक्ष का नंबर आता है। खेद होता है जब लोग विभिन्न परिस्थितियों में जीवन के निखरे बिना, संस्कारित हुए बिना अपने स्वाभाविक जीवनपथ को छोड़कर संसार को छोड़ते हैं, अपने कर्त्तव्य-उत्तरदायित्वों से मुँह मोड़ते हैं। चूँकि उनकी वृत्तियाँ परिमार्जित तो होती नहीं, इसलिए आगे चलकर अनेकों द्विविधाओं-द्वंद्वों में पड़कर वे अशांति और असंतोष का जीवन बिताते हैं। अपने आप को कोसने लगते हैं। संसार में क्षणभंगुरता के पाठ को पढ़कर न जाने कितने होनहार व्यक्तियों का जीवन नष्ट हो जाता है। अपने लिए या समाज के लिए वे जो कोई महत्त्वपूर्ण कार्य करते वह तो होता ही नहीं, उलटे ऐसे लोग समाज पर भारस्वरूप बनकर रहने लगते हैं। क्योंकि शरीर रहते कोई कितना ही त्यागी बने उसे भोजन, वस्त्र आदि की आवश्यकता तो होती ही है।

वस्तुतः 'मुक्ति' जीवन के सहज विश्वासक्रम की वह अवस्था है, जहाँ मानवीय चेतना सर्वव्यापी विश्व चेतना से युक्त होकर स्पंदित होने लगती है और उसमें से परमार्थ कार्यों का मधुर संगीत गूँजने लगता है। तब व्यक्ति अपने सुख, अपने लाभ, अपनी मुक्ति को भूलकर सबके कल्याण के लिए लग जाता है। इस ऊँची मंजिल तक सांसारिक परिस्थितियों में साधनामय जीवन बिताने से ही पहुँचा जा सकता है। जिस तरह बिना सीढ़ियों के छत पर नहीं पहुँचा जा सकता,

उसी तरह संसार में अपने कर्त्तव्य, उत्तरदायित्वों को पूर्ण किए बिना जीवन्मुक्ति की मंजिल तक नहीं पहुँचा जा सकता। ऋषियों ने जीवन के सहज पथ का अनुगमन करके पारिवारिक जीवन में रहकर ही अपूर्व आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त किया था और ब्रह्म का साक्षात्कार भी किया था।

जनक राजा होकर भी जीवन्मुक्त थे। हरिश्चंद्र सत्यवादी, राम अवतारी और कृष्ण भोगी होकर भी योगी थे। क्रोधी स्वभाव होने पर भी दुर्वासा महर्षि थे, श्रीकृष्ण के गुरु।

जो लोक-जीवन को पुष्ट न कर सके, जो व्यक्ति का सर्वांगीण विकास साध न सके, जो जगपथ पर चलते हुए मनुष्य को शक्ति प्रेरणा न दे सके, जो मनुष्य को व्यावहारिक जीवन का राजमार्ग न दिखा सके, वह अध्यात्म विज्ञान हो ही नहीं सकता।

अध्यात्मशास्त्र में तो अपने लाभ की बात, अपने सुख की इच्छा को बिलकुल ही स्थान नहीं है, चाहे वह लौकिक हो या पारलौकिक। वहाँ तो अपने से सबमें प्रयाण होता है। संकीर्ण से महान की ओर, सीमित से असीम की ओर गति होती है। ऋषि कहता है, "मुझे राज्य की, स्वर्ग की, मोक्ष की कामना नहीं है। मुझे यदि कोई चाह है तो वह दुखी आर्त लोगों की सेवा करने, उनके दुःख-दरद को दूर करने की।" कैसा महान था हमारा अध्यात्मशास्त्र जो मोक्ष, स्वर्ग, राज्य की संपदाओं को ठुकरा देता था। एक हम हैं कि संतान-धन-पद-यश-स्वर्ग की प्राप्ति के लिए अध्यात्मवादी बनने का प्रपंच रचते हैं, अपनी आत्मा को धोखा देते हैं। वस्तुतः जो अंतर-बाह्य, लौकिक-पारलौकिक सभी क्षेत्रों में हमें व्यक्तिवाद से हटाकर समष्टि में प्रतिष्ठित करे, व्यक्तिगत चेतना से उठाकर विश्वचेतना में गति प्रदान करे, वहीं से अध्यात्म की साधना प्रारंभ होती है।

अध्यात्म के नाम पर हमारे यहाँ गलत आचरण, विचित्र रहन-सहन, अजीब आदतों, कुतूहलपूर्ण हरकतों को भी बड़ा महत्त्व मिल गया है और इनसे समाज को गलत प्रेरणा भी मिलती है। अप्राकृतिक जीवन, विकृत आचरण, फूहड़ रहन-सहन भी हमारे यहाँ आध्यात्मिक

गुण समझे जाते हैं। विचार कीजिए कभी ऐसा अध्यात्म जो जीवन को अस्वाभाविक बनावे, क्या मनुष्य का कल्याण कर सकता है? कदापि नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने अध्यात्म विज्ञान के महत्त्व को समझें, उसके बारे में पर्याप्त जानकारी करें और इसके नाम पर जो गलत बातें प्रचलित हो रही हैं उनसे अपना बचाव करें। अध्यात्म को अपने जीवन विश्वास का आधार बनाएँ।

दोनों रूपों का ध्यान रहे

यह संसार दो रूपों में विभक्त है–दृश्य और अदृश्य। दृश्य स्थूल नेत्रों से दिखाई देने वाला संपूर्ण भौतिक जगत है। अदृश्य तत्त्व परमात्मा है जो प्राण रूप में सर्वत्र व्याप्त होकर विविध खेल रचना करता है। परमात्मा सब कामों में एक सी स्थिति में रहता है, किंतु प्रकृति परिवर्तनशील है, उसका स्वरूप बदलता रहता है इसलिए उसे मिथ्या कहा है। सुखोपभोग की स्थूल वासना और आसक्ति की दृष्टि से उसे मिथ्या, असार या मनोमात्र कहना अनुचित नहीं है। इस संसार के विषयों में ही मनुष्य जब भटक जाता है, तब ऐसा प्रतीत होता है कि यह संसार भ्रम है, धोखा है, मृगमरीचिका है। इनसे अलिप्त रहने में ही कल्याण है। शास्त्रकार ने भी कहा है–

लोक एव विषयानुरंजन दुःखगर्भमपि मन्यते सुखम्।
आमिष बडिशगर्भमप्यहो मोहतो ग्रसित यद्वदण्डजः॥

मछली जिस प्रकार मांस को देखती है, उसके नीचे छिपे हुए काँटे को नहीं, वैसे ही संसार विषयों के आकर्षण को ही देखता है। विषयों के परिणामस्वरूप अवश्यंभावी दुःख की ओर वह दृष्टिपात भी नहीं करता। जगत का मिथ्यात्व इसी दृष्टि से है क्योंकि यहाँ मनुष्य सुख की मृगतृष्णा में भटक जाता है और पाप करने लगता है, जिससे वह अपने जीवनलक्ष्य से पतित होकर जन्म-जन्मांतरों तक यहाँ के दुःख और कष्ट के भोग भोगता रहता है।

श्री गौडपादाचार्य ने लिखा है–

आदावन्ते च यन्नास्ति वतमानेऽहि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिता॥

स्वप्नमापे यथा दृष्टे गन्धर्व नगरं यथा।
तथा विश्व मिदं दृष्टं वबान्तेषु विचक्षणैः॥

जो वस्तु उत्पत्ति में पूर्व न रही हो, नाश हो जाने पर भी न रहती हो, किंतु बीच में सत्य प्रतीत होती हो, उसको सत्य नहीं मानना चाहिए। जिस तरह स्वप्न में गंधर्व नगरी के से सुंदर दृश्य दिखाई देते हैं, किंतु जाग जाने पर कुछ भी शेष नहीं रहता, संसार भी उसी तरह दृश्य मात्र है। आज इसे जिस रूप में देखते हैं मृत्यु के अनंतर वह किसी दूसरे ही रूप में दिखाई देगा।

मनुष्य का ज्ञान जितना बढ़ता जाता है, उतना वह अपने शरीर को अधिक महत्त्व देता चला जाता है। इसी को नहलाने-धुलाने, खिलाने-पिलाने, सजाने आदि में ही सारा जीवन बरबाद कर देता है। उसको प्रतीति होती है कि वह शरीर है, किंतु चूँकि जीवन धारण के पूर्व उसकी स्थिति शरीर नहीं थी, मृत्यु के अनंतर भी शरीर शेष नहीं रहता केवल जीवन के क्षणों में वह सत्य जैसा प्रतीत होता है, इसलिए धर्माचार्यों ने बार-बार समझाया है कि यह संसार और यहाँ की वस्तुएँ छल हैं, प्रपंच हैं। इनमें धोखा नहीं खाना चाहिए। साधनों को निस्सार समझकर उनके पीछे भागने की अपेक्षा अपने मानव जीवन को सार्थक बनाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

सती मदालसा ने अपने बच्चों को बड़ा मार्मिक उपदेश दिया है-

शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि, निरञ्जनोऽसि
संसार माया परिवर्जितोऽसि।
संसार स्वप्नं त्याग मोह निद्रां
मदालसा वाक्यामुवाच पुत्रम्॥

हे पुत्र! तू मेरे वचन को सुन-तुम स्वरूप से शुद्ध, बुद्ध मुक्त हो। इस मायामय संसार के साथ गठबंधन से तुम्हारा कोई संबंध नहीं है। यह दिखाई देने वाला संसार स्वप्न मात्र है इसलिए मोहरूपी निद्रा का परित्याग कर अपने शाश्वत स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न करो।

वास्तव में यह उपदेश हममें से प्रत्येक के लिए सारपूर्ण है। हम जब तक अपने आप को नहीं पहचानते, तब तक इस मनुष्य शरीर का

कुछ उपयोग नहीं है। इसलिए उचित है कि विषय विकारों का परित्याग कर पारलौकिक जीवन के शोध की ओर उन्मुख हों।

परिवर्तन हमारे देखने में न आते हों, ऐसा तो नहीं है किंतु दु:ख है कि उन पर विचार नहीं किया जाता। शरीर की तीन अवस्थाएँ– जन्म, वृद्ध और मरण के अनेकानेक दृश्य प्रत्येक को देखने को मिलते हैं। यह भी सभी जानते हैं कि मृत्यु के मुख से कोई बचता नहीं, फिर भी पारलौकिक जीवन की ओर हममें से बहुत थोड़े ही उन्मुख होते हैं। अधिकांश लोग काम, क्रोध, मोह और शोक के पीछे अंत तक भटकते रहते हैं, परिणामस्वरूप जीवात्मा को मृत्यु के अनंतर यहाँ भटकते रहना पड़ता है। उससे बड़ी अशांति व असंतोष होता है, पर तब तक मानव जीवन का अलभ्य अवसर हाथ से निकल गया होता है।

इस संसार की हवा में एक बड़ा विषैला नशा है। सौंदर्य की चमक-दमक में कुछ अजीब सा आकर्षण है, इससे मनुष्य धोखा खा जाता है। अँधेरे में पड़ी हुई रस्सी के जिस तरह से सर्प होने का भ्रम होता है, उसी तरह यहाँ के प्रत्येक पदार्थ में एक प्रकार का मोहक भ्रम भरा पड़ा है, इसी से लोग उन्हीं में भटकते रहते हैं। आकर्षण का एक रूप समाप्त होता है, दूसरा नया, उससे भी आकर्षक रूप सामने आ जाता है। न पहले से तृप्ति होती है और न दूसरे से तृष्णा ही समाप्त होती है। बावला इनसान इसी रूप-छल की भूल-भुलैया में गोते मारता रहता है। उसे अपने मूल रूप की ओर ध्यान देने का अवसर भी नहीं मिल पाता। यह स्थिति बड़ी ही दु:खद है।

वेदांत दर्शन का मत है कि आँख से दिखाई देने वाले दृश्य, नाक से सूँघी जाने वाली गंध, जीभ से चखा जाने वाला स्वाद-यह सभी मिथ्या हैं, परिवर्तनशील हैं। फूल देखने में बड़ा सुंदर लगता है किंतु मुरझा जाने पर वही कूड़ा-करकट सा लगता है। तब उसकी सुगंध भी लुप्त हो जाती है। इसी तरह वृक्ष-वनस्पति, नदी-पहाड़, पशु-पक्षी सभी बदलते रहते हैं, एक रूप में स्थिर रहने वाली कोई भी वस्तु दिखाई नहीं देती। सूर्य-चंद्रमा तक की विभिन्न कलाएँ प्रदर्शित होती हैं। इस परिवर्तनशील जगत में सर्वत्र अस्थिरता और चंचलता ही है।

जीवात्मा जब तक अपने परम पद को नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक उसे स्थायी प्रसन्नता, शाश्वत सुख और चिरस्थायी शांति नहीं मिलती। इसलिए प्रतिभासिक सत्ता को साधन मात्र समझकर अपने पारलौकिक हित-चिंतन में लगे रहना चाहिए।

जहाँ माया-मोह के विचार सहज छूट रहे हों, वहाँ यह सोचना चाहिए कि इस मकान, जमीन, बाग-बगीचे आदि पर अब तक कितने दाखिल और खारिज हो चुके हैं। पर इन्हें कोई स्थायीतौर पर प्राप्त न कर सका तो हमें ही ये वस्तुएँ कब तक साथ दे सकेंगी? सांसारिक खेलमात्र में इन सभी वस्तुओं की उपादेयता है इन्हें इसी रूप में ही देखना भी चाहिए और अपने चरम-कल्याण में तत्परतापूर्वक स्थिर रहना चाहिए।

इस संसार की यदि कुछ सार्थकता है तो वह परमात्मा का विराट रूप होने से है। शास्त्रकार का कथन है-'**सर्वं खल्विदं ब्रह्म। इदं सर्वं खलु ब्रह्म**'-अर्थात यह जो कुछ भी दिखाई देता है, वह सारा जगत ब्रह्म रूप है। परमात्मा हमारी सेवा और पुण्यार्जन का आधार है। अतः इस संसार को भी इसी रूप में ही देखना चाहिए। इसे परमात्मा का स्वरूप समझकर सत्कर्मों द्वारा यदि कुछ प्रेरणा और प्रकाश ग्रहण कर सकें तो यह संसार ही हमारी जीवन्मुक्ति में सहायक हो सकता है।

'संसार माया है'-यह कहने का तात्पर्य मनुष्य को उसके जीवनलक्ष्य की याद दिलाते रहना है। ऐसा न हो कि प्राणी सांसारिक भोग-वासनाओं में ही भटकता रहे और पारलौकिक सुख को भूल जाए, इस दृष्टि से इस संसार को स्वप्नवत बताना उचित ही है।

सृष्टि का दूसरा स्वरूप ईश्वरमय है। वह हमारे कर्त्तव्यपालन के लिए है। माया-माया कहकर यदि कार्यों का परित्याग कर दिया जाए तो सारी सृष्टिव्यवस्था में गड़बड़ी उत्पन्न हो सकती है। जीवात्मा जिन सुखों के भोग के लिए यहाँ आया, कर्त्तव्यपालन के अभाव में वह भी तो पूरे नहीं होते। अतः इस संसार को परमात्मा का ही प्रतिरूप समझकर निष्काम भावना से अपने कर्त्तव्य-कर्मों का पालन करते रहना चाहिए। इस तरह मनुष्य इहलोक के सुख और पारलौकिक शांति सुगमता से उपलब्ध कर सकता है।

प्राचीनकाल में मनुष्य को अगणित सुख-सुविधाएँ प्राप्त थीं, उसकी शक्ति-सामर्थ्य प्रत्येक दिशा में बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। इस सुयोग का कारण और कुछ नहीं केवल एक ही था-जीवन का अध्यात्म-प्रेरणा से अनुप्राणित एवं प्रेरित होना। उस समय सब लोग अपनी भावनाएँ और क्रियाएँ अध्यात्म मान्यताओं एवं मर्यादाओं के अनुसार ढालते थे, फलस्वरूप उन्हें बाह्य जीवन में किसी प्रकार की असुविधा न रहती थी। जहाँ चंदन का वृक्ष होगा, वहाँ सुगंध रहेगी ही, जहाँ अध्यात्म को आश्रय मिलेगा वहाँ शक्ति, समृद्धि और सुख-शांति की परिपूर्णता ही रहनी चाहिए।

अध्यात्म भारत की महानतम संपत्ति है। उसे मानवता का मेरुदंड कहा जा सकता है। मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक चिरस्थायी उत्कर्ष का एकमात्र आधार यही है। मनुष्य जाति की अगणित समस्याओं को हल करने और सुख-शांतिपूर्वक जीने के लिए अध्यात्म ही एकमात्र उपाय है। इस जीवनतत्त्व की उपेक्षा करने से पतन और विनाश का ही मार्ग प्रशस्त होता है। दु:ख और दारिद्रय, शोक और संताप इसी उपेक्षा के कारण उत्पन्न होते हैं। मनुष्य के भविष्य को अंधकारमय बनाने वाला निमित्त इस उपेक्षा से बढ़कर और कोई नहीं हो सकता।

अध्यात्म मानव जीवन के श्रेष्ठतम सदुपयोग की एक वैज्ञानिक पद्धति है। उसे जीवन जीने की विद्या भी कहा जा सकता है। छोटे-छोटे कार्यों की भी कोई प्रणाली एवं पद्धति होती है, उसी ढंग से चलने पर सफलता मिलती है। अस्त-व्यस्त ढंग से कार्य किया जाए तो लाभ के स्थान पर हानि ही होगी। मानव जीवन इस संसार का सर्वोत्कृष्ट वरदान है। भगवान के पास जो कुछ विभूतियाँ हैं, वे सभी मनुष्य शरीर में बीज रूप में भर दी हैं। ऐसे बहुमूल्य संयंत्र का सुसंचालन एवं सदुपयोग यदि प्राप्त न हो तो उसे एक दुर्भाग्य ही कहा जाएगा। मानव जीवन एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान प्रक्रिया है। उसका विज्ञान एवं विधान जाने बिना या जानकर उस पर

चले बिना यह आनंद एवं श्रेय नहीं मिल सकता जो मनुष्य जीवन जीने वाले को मिलना ही चाहिए।

मानव जीवन के दो पहलू हैं–एक आत्मा, दूसरा शरीर। एक आंतरिक, दूसरा बाह्य। दोनों में एक से एक बढ़कर विभूतियाँ एवं समृद्धियाँ भरी पड़ी हैं। आत्मिक क्षेत्र में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार चारों ही क्रमशः एक से एक बढ़कर शक्ति संस्थान हैं। पाँच कोश एवं छह चक्र, अपने गर्भ में अगणित ऋद्धि-सिद्धियाँ छिपाए बैठे हैं। मस्तिष्क के मध्य भाग ब्रह्मरंध्र में अवस्थित शत-दल कमल, हृदय संस्थान का सूर्यचक्र, नाभिदेश में प्रतिष्ठित ब्रह्मग्रंथि मूलाधार-वासिनी महासर्पिणी कुंडलिनी का जो विवेचन योगशास्त्रों में मिलता है उससे स्पष्ट है कि विश्व की अत्यंत महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ बीजरूप से इन छोटे से केंद्रों में भरी पड़ी हैं। योगाभ्यास द्वारा इन्हें जाग्रत करके साधना मार्ग के पथिक अपने को अलौकिक सामर्थ्यों से सुसंपन्न सिद्धपुरुषों की श्रेणी में पहुँचा देते हैं। ऋषि-मुनियों ने अध्यात्म विद्या के गूढ़ रहस्यों का अवगाहन कर प्रकृति की उन विस्मयकारी शक्तियों पर आधिपत्य प्राप्त कर लिया था जो भौतिक विद्या के वैज्ञानिकों के लिए अभी भी रहस्यमय बनी हुई हैं।

खेदपूर्वक यह स्वीकार करना होगा कि हमारे आलस्य और प्रमाद ने योग की उन उच्चस्तरीय विद्याओं को गँवा दिया। वैज्ञानिक शोध जैसी निष्ठा में संलग्न होने वाले साधक आज कहाँ! जो हैं उन्हें बहुत कुछ मिलता भी है। जिनके आशीर्वाद प्राप्त करके मनुष्य अपना जीवन धन्य और सफल बना सके ऐसे ऋषिकल्प सत्पुरुष अभी भी मौजूद हैं।

प्राचीनकाल में ऋषि-मुनियों के संरक्षण में सारा विश्व ही स्वर्गीय सुख-शांति का उपभोग कर रहा था। आत्मबल की महत्ता का उच्चस्तरीय प्रकरण रहस्यमय है। कठिन और कष्टसाध्य भी है। उस मार्ग पर कम ही लोग चल पाते हैं फिर भी यह तथ्य सुनिश्चित ही रहेगा कि आत्मा के सूक्ष्म संस्थानों की साधना, रहस्यमयी एवं चमत्कारी प्रतिफल

उत्पन्न करती है। उसका अवलंबन लेकर मनुष्य अपना जीवनलक्ष्य प्राप्त करने के अतिरिक्त संसार की भी इतनी बड़ी सेवा कर सकता है, जितनी बड़ी से बड़ी भौतिक क्षमता संपन्न व्यक्तियों की सम्मिलित शक्तियों के द्वारा भी संभव नहीं।

उच्चस्तरीय सूक्ष्म साधना का फल आकर्षक, चमत्कारी एवं आश्चर्यजनक तो अवश्य है पर उसकी साधना भी उसी अनुपात से समयसाध्य और कष्टसाध्य है। बालबुद्धि के लोग यह आशा किया करते हैं कि कुछ ही दिन छोटा-मोटा कर्मकांड करके उस स्थिति की सफलता प्राप्त कर लेंगे। बरगद का पेड़ बड़ा समृद्धिशाली और चिरस्थायी माना गया है, पर उसके उगने, बढ़ने और फलने-फूलने की स्थिति तक पहुँचने में देर लगती है। उतावली में हथेली पर सरसों जमाने की बालक्रीड़ा उपहासास्पद ही सिद्ध होती है। योगाभ्यास की साधन-विधियाँ भले ही कठिन न हों, पर उनके फलित होने लायक साधक की पूर्व भूमिका तो शुद्ध हो सकनी चाहिए। यदि साधक का बाह्य जीवन दूषित, कलुषित, निकृष्ट एवं अस्त-व्यस्त रहा होगा तो उसे लौकिक समृद्धि, सफलता एवं सुख-शांति भी प्राप्त न हो सकेगी, ऐसी दशा में आत्मबल एवं उच्च विभूतियों की उपलब्धि की आशा तो की ही कैसे जा सकती है?

नियम यह है कि पहले बाह्य जीवन में अध्यात्म तत्त्वज्ञान का समावेश करके उसे सुख-शांतिमय बनाया जाए। इस प्रकरण में जितनी उपासना अभीष्ट है, उतनी करते रहा जाए, पर अधिक जोर बाह्य जीवन को सुसंगत बनाने के लिए ही दिया जाए। लौकिक जीवन को सुविकसित एवं सुसंस्कृत बना लेना भी एक आध्यात्मिक साधना ही है। उसका प्रतिफल भी लौकिक सफलताओं एवं सुसंबद्धताओं के रूप में ही उपलब्ध होता है। इस सफलता के बाद उच्चस्तरीय आध्यात्मिक साधना सरल हो जाती है और उनकी सफलता में भी कठिनाई नहीं आती। जो साधक जप-तप तो बहुत करते हैं किंतु लौकिक जीवन निकृष्ट बनाए रहते हैं, उनको प्रायः निराश ही रहना पड़ता है।

देवताओं का वरदान वस्तुतः इतना सस्ता नहीं है जितना लोगों ने समझ रखा है। वे 'दर्शन' करने मात्र से प्रसन्न हो जाएँगे या अक्षत, पुष्प जैसी छोटी चीजें पाकर अपना अनुग्रह हमारे ऊपर उड़ेल देंगे, ऐसा सोचना उचित नहीं। पूजा का भी अपना महत्त्व है, उसका भी लाभ होता है, पर मूल तथ्य पात्रता है। अनधिकारी की, कुपात्र की प्रार्थना भी सफल नहीं होती। देवता या भगवान को प्रसन्न करने का, उनका अनुग्रह उपलब्ध करने का सुनिश्चित मार्ग अपनी पात्रता बढ़ाना ही हो सकता है।

किन्हीं सिद्धपुरुषों का समर्थ आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए भी यह आवश्यक है कि वे अपना तप या पुण्य दान देकर हमारी सहायता करें, पर उसके लिए हम उपयुक्त अधिकारी भी सिद्ध तो हों। आशीर्वाद वाणी की क्रीड़ा नहीं है। उसके पीछे पुण्य या तप का अनुदान लगाया गया हो तो ही उसका कुछ प्रतिफल दृष्टिगोचर हो सकता है। इस सृष्टि में कोई वस्तु मुफ्त नहीं मिलती। हर वस्तु का मूल्य निर्धारित है। उसे चुकाने पर ही कुछ प्राप्त कर सकना संभव हो सकता है। सुख और समृद्धि की प्राप्ति पुण्यफल की मात्रा पर निर्भर रहती है। दुःख हमारी त्रुटियों और विकृतियों के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं। सुख प्राप्त करने और दुःख निवारण के लिए पुण्य एवं तप की अभीष्ट मात्रा चाहिए। वस्तु तो कीमत देने से ही मिलेगी। अपने पास वह कीमत न हो तो दूसरा भी अपनी जेब से उसकी पूर्ति कर सकता है। मूल्य हर हालत में चुकाना पड़ेगा। आशीर्वाद के साथ कोई सिद्धपुरुष अपना तप भी देने को तैयार हो जाए तो भी यह आशा की जा सकती है कि उससे कोई लाभ होगा। अन्यथा वाणी से निकले हुए केवल शब्द भले ही वह आशीर्वाद की भाषा में कहे गए हों, किसी के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकते।

जब सामान्य बुद्धि के लोग पात्र-कुपात्र का ध्यान रखते हैं, अधिकारी-अनधिकारी के भेद को समझते हैं और उसी के अनुसार

निष्ठुरता एवं उदारता बरतते हैं तो देवता और सिद्धपुरुषों को इतना नासमझ क्यों माना जाए कि वे पात्रता की परख किए बिना अंधाधुंध प्रार्थनाओं की पूत दर्शन पूजन जैसे बहकावे में आकर करने लगेंगे! स्कूलों में छात्रवृत्ति उन्हें मिलती है जो प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होते हैं। उन्हीं खिलाड़ियों को पुरस्कार मिलता है जो अपने को अधिक पुरुषार्थी सिद्ध करते हैं। ऊँचे पदों पर उनकी नियुक्ति होती है जो अन्य साथी प्रत्याशियों की अपेक्षा अपनी विशेषता सिद्ध करते हैं। देवता और सिद्धपुरुष वरदान तो देते हैं, कृतार्थ तो करते हैं, पर इससे पहले लेने वाले की पात्रता को परख लेते हैं। दान का यदि दुरुपयोग होने लगे तो उसका पाप दाता पर पड़ता है। इस तथ्य को वे उच्च शक्तियाँ भी जानती हैं, इसलिए प्रार्थना करने वाले की, वरदान या आशीर्वाद माँगने वाले की पात्रता को ही वे सबसे पहले परखती हैं। अनधिकारी के प्रति उनका रुख भी निष्ठुरतापूर्ण ही बना रहता है। यह उक्ति प्रसिद्ध है कि ईश्वर उनकी सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करते हैं। इस छोटे से वाक्य में ईश्वर की नीति और कार्यपद्धति का मर्म बिलकुल ही स्पष्ट रूप से प्रतिपादित कर दिया गया है।

ईश्वर की सुव्यवस्थित सृष्टि का कण-कण नियम-बंधनों में बँधा हुआ है। इतना बड़ा शासनतंत्र बिना नियम व्यवस्था के चल भी नहीं सकता। सूर्य और चंद्रमा नियत समय पर उदय होते हैं, पृथ्वी नियत मार्ग पर नियत चाल से चलती है। ऋतुएँ समय पर आती हैं। बीज अपने नियम और क्रम से उगते और बढ़ते हैं। जन्म, वृद्धि और मृत्यु के चक्र में हर पदार्थ जकड़ा हुआ है। यहाँ अव्यवस्था के लिए तनिक भी गुंजाइश नहीं। ईश्वर भी अपना काम तभी कर पा रहा है, जब उसने अपने आप को नियम और व्यवस्था के अंतर्गत बाँध लिया है। प्राणियों को उनके शुभ-अशुभ कर्मों के आधार पर उन्नति-अवनति के प्रतिफल प्रदान करता है। यदि वह इसमें अव्यवस्था उत्पन्न करे तो सृष्टि का सारा क्रम ही बिगड़ जाए। प्रार्थना करने मात्र से मनमाने

उपहार देने लगे तो फिर प्रयत्न और पुरुषार्थ करने के लिए किसी को क्या आकर्षण रह जाएगा? फिर कर्मफल का तथ्य तो एक उपहास की बात बन जाएगा। कोई न्यायाधीश वस्तुस्थिति पर ध्यान दिए बिना प्रार्थियों की अर्जी-मर्जी के अनुरूप फैसले करने लगे, सुविधाएँ देने लगे तो उसे पागल ही कहा जाएगा। ईश्वर ऐसा पागल नहीं है। देवता या सिद्धपुरुषों को भी इतना नासमझ नहीं माना जाना चाहिए कि हर किसी की उचित-अनुचित सहायता के लिए धर दौड़ें और पात्रता, अधिकार एवं कर्मफल के सुनिश्चित तथ्यों को मटियामेट करके अव्यवस्था फैला देने के दोषी बनें।

गुरुजन कृपा अवश्य करते हैं और उनके आशीर्वाद से लोगों का भला भी अवश्य होता है, पर वह कृपा विशुद्ध रूप में प्रार्थी की पात्रता पर निर्भर रहती है। देवता वरदान देते हैं, ऐसे असंख्य उपाख्यान पुराणों में मिलते हैं, पर स्मरण रखना चाहिए कि वे वरदान भी अंधाधुंध नहीं, किसी आधार पर मिलते हैं। असुरों ने बड़े-बड़े आश्चर्यजनक वरदान पाए थे, पर उनका मूल्य उन्होंने घोर तपश्चर्या के रूप में चुकाया भी था। हमारी तरह यदि वे भी दर्शन करके या चंदन अक्षत चढ़ाकर थोड़ी-सी पूजा-पत्री से बड़ी-बड़ी आशाएँ लगाए बैठे रहते तो उन्हें भी हमारी तरह निराशा के अतिरिक्त और क्या हाथ लग सकता था?

दैवी अनुग्रह हमारी पात्रता के आधार पर ही उपलब्ध हो सकता है अतएव उसके लिए बहुत चिंता या बहुत खोज-बीन करने की अपेक्षा, अपनी आंतरिक उत्कृष्टता बढ़ाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। सत्पात्रों की उचित सहायता एवं मार्गदर्शन करने के लिए ईश्वरीय नियम अपने आप काम करता रहता है और उसकी पूर्ति अनायास ही होती रहती है। गुरु ढूँढ़ने नहीं पड़ते, अधिकारी को वे अनायास ही मिल जाते हैं। पुष्प खिलते ही बिना निमंत्रण के भौंरे उसके आगे गुंजार करने स्वत: ही जा पहुँचते हैं। जहाँ पर जितना गहरा गड्ढा होता है

वहाँ उतना जल भर जाता है। कम गहरा गड्ढा, बड़े सरोवर के बराबर कैसे जल प्राप्त कर सकेगा? बादलों पर कम देने का दोष भले ही लगाया करे, पर वस्तुस्थिति यही है कि गड्ढे के उथलेपन ने ही उसे प्रचुर जलराशि संग्रह करने के लाभ से वंचित रखा। बादलों को सरोवर और गड्ढे में से किसी के साथ पक्षपात नहीं था, उनने समान वर्षा की, पर लाभ उन्हें अपनी पात्रता के अनुरूप ही मिल सका। ईश्वर, देवता या सिद्ध पुरुषों से विविध-विध वरदानों की कामना एवं प्रार्थना करने के साथ-साथ हमें अपनी पात्रता भी देखनी चाहिए और उसे बढ़ाने के लिए प्रयत्न भी करना चाहिए।

अध्यात्म की महिमा का पारावार नहीं, उसके द्वारा प्राप्त हो सकने वाले लाभों की गणना नहीं हो सकती। मानव जीवन की सर्वोत्कृष्ट विभूति वही है। अंत:प्रदेश में सन्निहित रहस्यमयी शक्तियों के जागरण से मनुष्य की परिणति देवत्व में हो सकती है। पर उस मार्ग पर चलने वाले को इतना तो ध्यान रखना ही चाहिए कि उपासना विधानों की तरह व्यावहारिक जीवन को उत्कृष्ट एवं परिष्कृत बनाना भी आवश्यक है। इसके बिना कठोर साधना निरर्थक सिद्ध होती है।

❐

अध्यात्म ही सभी समस्याओं के समाधान में सक्षम

वैयक्तिक कारणों से आएदिन होते रहने वाले लड़ाई-झगड़ों से लेकर समाजों और वर्गों के मध्य चलने वाले संघर्ष क्यों उभरते हैं? आक्रमण-प्रत्याक्रमणों का कुचक्र क्यों गतिशील रहता है? देश-देशों के बीच युद्ध क्यों होते हैं? इसके कारणों पर शोधकर्त्ताओं ने मनोविज्ञान को आधारभूत कारण माना है। यों लड़ाइयों के छोटे-मोटे कारण सामयिक भी होते हैं, पर वे ऐसे नहीं होते जो वार्त्तालाप, समझौता, उदारता अथवा न्याय निर्णय के आधार पर हल न हो सकते हों। अत्यंत गंभीर कारणों से उत्पन्न होने वाले विग्रहों तक के जब समाधान खोज निकाले जाते हैं तो कोई कारण नहीं है कि तनिक सी बात पर इतना विग्रह उभरे, जिससे चिरकाल तक वातावरण विक्षुब्ध बना रहे और धन-जन की असाधारण हानि सहन करनी पड़े।

पिछली पीढ़ी के नृतत्त्ववेत्ता यह मानते रहे हैं कि मनुष्य की डरपोक प्रवृत्ति, किसी प्रतिपक्षी के भयंकर आक्रमण की आशंका से ग्रसित हो जाती है तो अपने ऊपर भयंकर विपत्ति टूटने की कल्पना करने लगती है। डर बढ़ता है। उस काल्पनिक आक्रमण को रोकने के लिए बचाव की रक्षा-पंक्ति खड़ी करने के रूप में प्रतिपक्षी को दुर्बल बनाने की दृष्टि से छोटा आक्रमण किया जाता है। आक्रमण का प्रत्युत्तर प्रत्याक्रमण के रूप में मिलता है। फलतः यह कुचक्र चक्रवृद्धि क्रम से घूमता है और कुछ ही समय में तिल का ताड़ बन जाता है। चिनगारी भयानक अग्निकांड का रूप धारण कर लेती है।

मनोविज्ञानी एक और भी कारण बताते हैं कि हर मनुष्य में अपनी विशेषता और बलिष्ठता सिद्ध करने की स्वाभाविक महत्त्वाकांक्षा होती है। उसे पूरा करके का सहज तरीका तो अपनी योग्यता एवं सफलता सिद्ध करने का ही हो सकता है, पर उसके लिए जिस दृढ़ता, तत्परता और कुशलता की आवश्यकता होती है वह जुट नहीं पाती।

ऐसी दशा में हानि पहुँचाने की क्षमता प्रदर्शित करने का आंतकवादी तरीका अपनाना पड़ता है। इसी में शौर्य, पराक्रम समझा जाता है। आक्रमण करके दूसरों को नीचा दिखाना और अपनी सामर्थ्य सिद्ध करना भी लड़ाइयों की तरह ही एक बड़ा कारण होता है। बहाना तो किसी छोटे-मोटे अप्रिय प्रसंग का ही ले लिया जाता है।

अपराधियों की दुष्टताएँ इससे भिन्न हैं जो चोरी, डकैती, हत्या, बलात्कार की उद्दंडता बरतने और मर्यादाएँ तोड़ने के रूप में सामने आती रहती हैं। उनमें अर्थ लोभ एवं द्वेष बुद्धि की प्रधानता रहती है। दुस्साहस का अहंकार भी उसमें जुड़ा रहता है।

नई पीढ़ी के वैज्ञानिक कहते हैं कि युद्ध मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है। स्वभावत: मनुष्य सामाजिक और सहयोगी प्रकृति का है, उसे सुविधा और खुशी चाहिए। युद्ध में आघात-प्रत्याघात से हर दृष्टि से हानि ही हानि उठानी पड़ती है। जीतने वाला भी घाटे में ही रहता है। ऐसी दशा में युद्ध को स्वाभाविक प्रकृति नहीं माना जा सकता, वह कुसंस्कारों एवं विकृत वातावरण की प्रतिक्रिया ही माना जा सकता है।

अहंमन्यता का विकृत रूप उद्दंडता है, जिसकी ओछी पूर्ति दूसरों का तिरस्कार करके की जा सकती है। झगड़ालू स्वभाव में यही तथ्य काम करता है। यदि मनुष्य को आरंभ से ही शिष्टता, शालीनता, नम्रता और नागरिकता की शिक्षा दी जाए तो वह आक्रमण की अपेक्षा दूसरों की सहायता करने और बदले में श्रेय-सम्मान पाने की बात सोचेगा। ऐसी दशा में मतभेद और स्वार्थ विपर्यय होते हुए भी ऐसा मार्ग खोज लिया जाएगा, जिसमें झंझट कम खड़ा हो और गुत्थी शांति से सुलझ जाए।

पक्षपात की मात्रा जितनी बढ़ेगी उतनी ही विग्रह की संभावना बढ़ेगी। उचित-अनुचित का भेद कर सकना, तथ्य को ढूँढ़ना और न्याय की माँग को सुन सकना, पक्षपात के आवेश में संभव ही नहीं हो पाता। अपने वर्ग की अच्छाइयाँ ही दीखती हैं और प्रतिपक्षी की बुराइयाँ ही सामने रहती हैं। अपनों की भूलें और विरानों के न्याय तथ्य

भी समझ में नहीं आते। तब एकपक्षीय चिंतन उद्धत बन जाता है। ऐसी दशा में आक्रमण-प्रत्याक्रमण का क्रम चल पड़ने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह जाता। यदि तथ्यों को खोज निकालने की दूरदर्शिता अपनाए रहा जाए, कारणभूत तथ्यों को ढूँढ़ निकाला जाए और न्यायोचित समाधान के लिए प्रयास किया जाए तो तीन-चौथाई लड़ाइयाँ सहज ही निरस्त हो सकती हैं। न्याय और औचित्य को अपनाने वाली उदार सद्भावना का विकास हो सके तो युद्ध प्रवृत्ति पर अंकुश लग सकता है। विग्रह की चिनगारी अंततः कितने बड़े दुष्परिणाम प्रस्तुत कर सकती है-इस पर सही ढंग से विचार किया जा सके तो विग्रह की हानि और समाधान का सत्परिणाम सोचा जा सकेगा। ऐसी दशा में युद्ध से बचे रहने की प्रवृत्ति पनपेगी और शांति का पक्ष मजबूत होता चला जाएगा।

वर्ग भेद और वर्ग संघर्ष उत्पन्न कराने वाले कारणों को निरस्त न किया जा सके तो कम से कम उनकी उपेक्षा तो होनी ही चाहिए। सहयोग और समीपता के सूत्र तथा आधार ढूँढ़ने के लिए प्रयत्नशील रहा जाना चाहिए। संप्रदाय, भाषा, जाति, वर्ग, क्षेत्र, देश आदि के नाम पर उभरने वाली भेदबुद्धि को यथासंभव हटाने या घटाने का प्रयत्न चलना चाहिए। कम से कम इन मतभेदों को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाने और दूसरों को तुलना में विशिष्ट सिद्ध करने का प्रयत्न तो नहीं ही किया जाए। अपनी मान्यताओं के प्रति निष्ठावान रहना ठीक है, पर उनका प्रदर्शन इस प्रकार नहीं होना चाहिए जिससे अन्य मान्यताओं का तिरस्कार होता हो। धर्म के नाम पर आएदिन कलह इसीलिए होते हैं कि अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए उसकी विशेषता बताने की अपेक्षा अन्यों की निकृष्टता सिद्ध करके अपना बड़प्पन सिद्ध करने का घटिया तरीका अपनाया जाता है। यही बात जातिगत श्रेष्ठता एवं देश-देश के बीच चलती रहती है। यदि दूसरों का, मनुष्यों और वर्गों का सम्मान करने का ध्यान रखा जाए तो समन्वय, सहिष्णुता एवं सद्भावना के वातावरण में संसार में पाई जाने वाली अनेकों भिन्नताएँ बिना टकराए अपने-अपने ढंग से पनपती रह सकती हैं और एक-

दूसरे के लिए सहयोगी एवं पूरक सिद्ध हो सकती हैं। संघर्ष का एक ही केंद्रबिंदु रहे–अनैतिकता–असामाजिकता। इसके लिए वर्ग संघर्ष की नहीं समूची मानवता के संयुक्त रूप से टूट पड़ने की मुहिम खड़ी की जानी चाहिए।

प्रतिस्पर्द्धा की प्रवृत्ति यदि स्वाभाविक है तो श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए खेल–कूद, स्वास्थ्य संवर्द्धन, शिक्षा, कला आदि में विशेषता, उदार सेवा–साधना जैसे अनेक क्षेत्र ढूँढ़े जा सकते हैं जिनमें लोग अपनी विशेषता बिना दूसरों का तिरस्कार किए या कष्ट पहुँचाए ही सिद्ध कर सकें।

उदार मनोवृत्ति अपनाकर ही चैन से रहने और रहने देने की स्थिति बनती है। उदारता का अर्थ दान–पुण्य ही नहीं है, वरन यह भी है कि संकीर्ण दृष्टि से सोचना बंद किया जाए और दूसरों की स्थिति में अपने आप को रखकर यह सोचा जाए कि गलतफहमी कहाँ है? कहीं पक्षपात अथवा अनौचित्य को प्रश्रय तो नहीं मिला है? न्याय और विवेक की कसौटी अपनाकर वस्तुस्थिति को समझना अधिक अच्छी तरह संभव हो सकता है। प्यार और सहयोग पर यदि अपना विश्वास हो तो संघर्ष की कम ही आवश्यकता पड़ेगी। फिर अनिवार्यतः जो झंझट करना भी पड़ेगा, उसकी न तो बहुत बुरी प्रतिक्रिया होगी और न द्वेष का कुचक्र देर तक चलता रह सकेगा। यह उदार, गंभीर, निष्पक्ष एवं विवेकपूर्ण मनोवृत्ति विकसित करना ही आध्यात्मिक विकास है।

दुष्प्रवृत्तियों के भार से लदा–दबा चित्त आध्यात्मिक न होगा, न हो सकता है। इस अधःस्थिति से ऊपर उठना ही आंतरिक विकास का आरंभ है। भारीपन, जड़ता, तमोगुण के पर्याय कहे जाते हैं जबकि हलकापन और प्रकाश सत्वगुण के लक्षण हैं। सत्वगुण के विकास से, आंतरिक स्तर ऊपर उठाने के अभ्यास से ही आध्यात्मिक प्रयोजन सध सकता है।

शरीर क्या है? मल–मूत्र से भरा और हाड़–मांस से बना घिनौना किंतु चलता–फिरता पुतला। जीव क्या है? आपा–धापी में निरत,

दूसरों को नोंच खाने की कुटिलता में संलग्न-चेतना स्फुङ्गलग। जीवन क्या है? एक लदा हुआ भार जिसे कष्ट और खीज के साथ ज्यों-त्यों करके वहन करना पड़ता है। बुलबुले की तरह एक क्षण उठना और दूसरे क्षण समाप्त हो जाना, यही है जीवन की विडंबना, जिसे असंतोष और उद्वेग की आग में जलते-जलते गले में बाँधे फिरना पड़ता है। स्थूल तक ही सीमित रहना हो तो इसी का नाम जीवन है। पेट और प्रजनन ही इसका लक्ष्य है। लिप्सा और लोलुपता की खाज खुजाते रहना ही यहाँ प्रिय प्रसंग है। आत्मरक्षा, अहंता, मुक्ति की आतुरता, स्वामित्व की तृष्णा, यही हैं वे सब मूल प्रवृत्तियाँ जिनसे बँधा हुआ प्राणी कीट-मरकट की तरह देखा जाता है। स्थूल जीवन को यदि देखना-परखना हो तो इस प्रवंचना के अतिरिक्त यहाँ और कुछ दिखाई नहीं पड़ता। भूल-भुलैयों की उलझनें इतनी पेचीदा होती हैं कि उन्हें सुलझाने का जितना प्रयत्न किया जाता है उलटे उतनी ही कसती चली जाती हैं। रोता जन्म लेता है और रुलाते हुए विदा होता है, यही है वह सब जिसे हम जीवन के नाम से पुकारते हैं।

वस्तुतः जीवन इतना तुच्छ, जटिल और घिनौना है नहीं। उसकी यथार्थता का मूल्यांकन करने के लिए थोड़ा गहराई में प्रवेश करना पड़ेगा। समुद्र की ऊपरी सतह पर तो कूड़ा-करकट, झाग-फेन, काई-शैवाल, लहरों की उठक-पटक के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाया जा सकता। रत्नराशि तो समुद्र तल में पड़ी होती है। उसे पाने के लिए गहराई में उतरने वाले गोताखोरों जैसा कौशल और साहस सँजोना पड़ता है।

चेतना का स्थूल क्षेत्र पदार्थ, परिस्थिति और आतुरता भरी हलचलों में देखा जा सकता है। यह पशु जीवन है और प्रत्येक प्राणी को समान रूप से उपलब्ध है। जिसे जिस स्तर की काया मिली है वह उतने में ही अपने ढंग से रोता-गाता गुजर कर लेता है। मनुष्य भी इसका अपवाद नहीं है। क्रिया में दौड़-धूप की उत्तेजना भर है। नशे में भी उत्तेजना होती है और कई लोग उसे भी आनंद और संतोष का माध्यम बना लेते हैं। समझना एक बात है और यथार्थता दूसरी। कुछ को कुछ भी

समझा जा सकता है, पर उस भ्रांति से बनता तो कुछ नहीं। स्थिति तो स्थिति ही रहती है। आनंद सूक्ष्म में है, क्रिया से नहीं। विचारणा से हमारा समाधान होता है और भावना की गहराई में उतरने से आनंद का निर्झर फूट पड़ता है। यदि समाधान–तृप्ति एवं संतोष अभीष्ट हों तो क्रियाशील रहते हुए भी हमें ज्ञानवान बनना पड़ेगा। ज्ञान का आश्रय लिए बिना, दिग्भ्रांत स्थिति में आशंका और उद्विग्नता ही छाई रहेगी। शांति तो समाधान में है, वह समाधान सद्ज्ञान का आश्रय लिए बिना अन्य किसी आधार पर हो नहीं सकता।

क्रिया स्थूल है और ज्ञान सूक्ष्म। क्रिया तक सीमित न रहकर, तत्त्वचिंतन की गहराई में उतरने के प्रयत्न में, हमें चैन और संतोष मिलता है। एक परत इससे भी गहरी है, जिसे अंतरात्मा कहते हैं। यहाँ आस्थाएँ रहती हैं। अपने संबंध में प्रिय और अप्रिय के, उचित और अनुचित के, आदतों और प्रचलनों के, पक्ष और सिद्धांतों के संबंध में अनेकानेक मान्यताएँ, इसी केंद्र में गहराई तक जड़ें जमाए बैठी रहती हैं। व्यक्तित्व का समूचा ढाँचा, यहीं विनिर्मित होता है। मस्तिष्क और शरीर को तो व्यर्थ ही दोष या श्रेय दिया जाता है। वे दोनों ही वफादार सेवक की तरह हर आत्मा की ड्यूटी ठीक तरह बजाते रहते हैं। उनमें अवज्ञा करने की कोई शक्ति नहीं। आस्थाएँ ही प्रेरणा देती हैं और उसी पेट्रोल से धकेले जाने पर जीवन स्कूटर के दोनों पहिये–चिंतन और कर्तृत्व सरपट दौड़ने लगते हैं। व्यक्तित्व क्या है–आस्था। मनुष्य क्या है–श्रद्धा। चेष्टाएँ क्या हैं–आकांक्षा की प्रतिध्वनि। गुण, कर्म, स्वभाव अपने आप न बनते हैं और न बिगड़ते हैं। आस्थाएँ ही आदतें बनकर परिपक्व हो जाती हैं तो उन्हें स्वभाव कहते हैं। अभ्यासों को ही गुण कहते हैं। कर्म आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए शरीर और मन को संयुक्त रूप से जो श्रम करना पड़ता है, उसी को कर्म कहते हैं। इन तथ्यों को समझ लेने के उपरांत यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तित्व के स्तर और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में आने वाले सुख–दुःखों की अनुभूति होती रहती है। प्रसन्नता और उद्विग्नता को यों परिस्थितियों के उतार–चढ़ावों से जोड़ा जाता है, पर वस्तुतः वे मनःस्थिति के सुसंस्कृत और अनगढ़ होने के कारण सामान्य जीवन में

नित्य ही आती रहने वाली घटनाओं से ही उत्पन्न अनुभूतियाँ भर होती हैं। कोई घटना न अपने आप में महत्त्वपूर्ण है और न महत्त्वहीन। यहाँ सब कुछ अपने ढर्रे पर लुढ़क रहा है। सरदी-गरमी की तरह भाव और अभाव का, जन्म-मरण तथा हानि-लाभ का क्रम चलता रहता है। हमारे चिंतन का स्तर ही उनमें कभी प्रसन्नता अनुभव करता और कभी उद्विग्न हो उठता है। अनुभूतियों में परिस्थितियाँ नहीं, मन:स्थिति की भूमिका ही काम करती है।

जीवन के सफेद और काले पक्ष को समझ लेने के उपरांत, सहज ही प्रश्न उठता है कि क्या ऐसा संभव नहीं है कि परिस्थितियों के ढाँचे में ढले-लोक-प्रवाह में बहते हुए, संग्रहीत कुसंस्कारों से प्रेरित, वर्तमान अनगढ़ जीवन को, अपनी इच्छानुसार-अपने स्तर को फिर से गढ़ा जाए और प्रस्तुत निकृष्टता को उत्कृष्टता में बदल दिया जाए? उत्तर 'ना' और 'हाँ' दोनों में दिया जा सकता है। 'ना' उस परिस्थिति में जब आंतरिक परिवर्तन की उत्कट आकांक्षा का अभाव हो और उसके लिए आवश्यक साहस जुटाने की उमंगें उठती न हों। दूसरों की कृपा-सहायता के बलबूते उज्ज्वल भविष्य के सपने तो देखे जा सकते हैं, पर वे पूरे कदाचित ही कभी किसी के होते हैं। बाहरी, दैवी और संसारी सहायताएँ मिलती तो हैं, पर उन्हें पाने के लिए पात्रता की अग्नि परीक्षा में गुजरते हुए अपनी प्रामाणिकता का परिचय देना पड़ता है। उतना झंझट सिर पर उठाने का मन न हो-सहज ही कुछ इधर-उधर की हथफेरी करके भौतिक संपदाएँ, आत्मिक विभूतियाँ पाने के लिए जी ललचाता भर हो तो कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व को महामानवों के स्तर पर गठित करना और उसके फलस्वरूप उच्चस्तरीय सिद्धियाँ प्राप्त कर सकना एक प्रकार से असंभव ही है। उत्तर नकारात्मक समझा जा सकता है।

'हाँ' उस स्थिति में कहा जा सकता है जबकि साधक में यह विश्वास उभरा हो कि वह अपना स्वामी आप है-अपने भाग्य का निर्माण कर सकना उसके अपने हाथ की बात है। दूसरों पर न सही अपने शरीर और मन पर तो अपना अधिकार है ही और उसके अधिकार का

उपयोग करने में किसी प्रकार का कोई व्यवधान व हस्तक्षेप कहीं से भी नहीं हो सकता। मन की दुर्बलता ही है जो ललचाती, भरमाती और गिराती है। तनकर खड़ा हो जाने पर भीतरी और बाहरी सभी दबाव समाप्त हो जाते हैं और अभीष्ट दिशा में निर्भयता एवं निश्चितता के साथ बढ़ा जा सकता है। समुद्र की गहराई में उतरकर मोती ढूँढ़ने में विशिष्ट प्रकार के साधन एवं प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। जीवन समुद्र की गहराई में उतरकर एक से एक बहुमूल्य रत्न ढूँढ़ लाना सरल है। इसमें किसी बाहरी साधना या उपकरण की जरूरत नहीं–मात्र प्रचंड संकल्प शक्ति चाहिए। प्रचंड का तात्पर्य है धैर्य और साहस का उतनी मात्रा में समन्वय जिससे संकल्प के डगमगाते रहने की बालबुद्धि उभर आने की आशंका न हो। स्थिर बुद्धि से सतत प्रयत्न करते रहने और फल प्राप्ति में देर होते देखकर अधीर न होने की, वरन दूने उत्साह से प्रयत्न करने की सजीवता जहाँ भी होगी वहाँ सफलता पैर चूमने के लिए हाथ जोड़े, सिर झुकाए खड़ी होगी। ऐसे मनस्वी व्यक्ति अपने को, अपने वातावरण को यहाँ तक कि अपने प्रभावक्षेत्र को कायाकल्प की तरह बदल सकने में सफल हो सकते हैं। जीवन परिष्कार की भविष्यवाणी करते हुए ऐसे ही लोगों की सफल संभावना को 'हाँ' कहकर आश्वस्त किया जा सकता है।

आत्मोत्कर्ष की आकांक्षा बहुत लोग करते हैं, पर उसके लिए न तो सही मार्ग जानते हैं और न उस पर चलने के लिए अभीष्ट सामर्थ्य एवं साधन जुटा पाते हैं। दिग्भ्रांत प्रयासों का प्रतिफल क्या हो सकता है? अंधा अंधे को कहाँ पहुँचा सकता है? भटकाव में भ्रमित लोग लक्ष्य तक किस प्रकार पहुँच सकते हैं? आज की यह सबसे बड़ी कठिनाई है कि आत्मविज्ञान का न तो सही स्वरूप स्पष्ट रह गया है और न उसका क्रिया पक्ष–साधन विधान ही निर्भ्रांत है। इस उलझन में एक सत्यान्वेषी जिज्ञासु को निराशा ही हाथ लगती है।

हमें यहाँ अध्यात्म के मौलिक सिद्धांतों को समझना होगा। व्यक्ति के व्यक्तित्व में से अनगढ़ तत्त्वों को निकाल बाहर करना और उसके स्थान पर उस प्रकाश को प्रतिष्ठापित करना है, जिसके आलोक में जीवन को सच्चे अर्थों में विकसित एवं परिष्कृत बनाया जा सके। इसके

लिए मान्यता और क्रियाक्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन प्रस्तुत करने पड़ते हैं। वे क्या हों, किस प्रकार हों, इस शिक्षण में थ्योरी और प्रैक्टिस के दोनों ही अवलंबन साथ-साथ लेकर चलना होता है। थ्योरी का तात्पर्य है- सद्ज्ञान, वह आस्था विश्वास जो जीवन को उच्चस्तरीय लक्ष्य की ओर बढ़ चलने के लिए सहमत कर सके। इसे आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, तत्त्वज्ञान और सद्ज्ञान के नामों से जाना-समझा जाता है-योग इसी को कहते हैं। ब्रह्मविद्या का तत्त्वदर्शन यही है। प्रैक्टिस का तात्पर्य है, वे साधन विधान जो हमारी क्रियाशीलता को दिशा देते हैं और बताते हैं कि जीवनयापन की रीति-नीति क्या होनी चाहिए और गतिविधियाँ किस क्रम से निर्धारित की जानी चाहिए? साधनात्मक क्रियाकृत्यों का यह उद्देश्य समझ लिया जाए तो फिर किसी को भी न तो अनावश्यक आशा बाँधनी पड़ेगी और न अवांछनीय रूप में निराश होना पड़ेगा।

यह तथ्य हजार बार समझा और लाख बार समझाया जाना चाहिए कि जीवन का परम श्रेयस्कर और शांतिदायक उत्कर्ष आस्थाओं के परिष्कार, चिंतन के निखार एवं गतिविधियों के सुधार पर निर्भर है। जीवन इन्हीं तीन धाराओं में प्रवाहित होता है। शक्ति के स्रोत इन्हीं में भरे पड़े हैं और अद्भुत उपलब्धियाँ उन्हीं में से उद्भूत होती हैं। इन्हें किस आधार पर सुधारा, सँभाला जाए इसकी एक विशिष्ट पद्धति है-अपने अंतरंग और बहिरंग को उच्च स्तर तक उठा ले चलना। इसे जीवन का अभिनव निर्माण एवं व्यक्तित्व का कायाकल्प भी कह सकते हैं। बोलचाल की भाषा में इसे योगाभ्यास तपश्चर्या कहते हैं।

चेतना का उच्चस्तरीय प्रशिक्षण देने को योग समझा जाए। क्रिया-कलाप में सुव्यवस्था का आरोपण तप माना जाए। इसके लिए कई तरह के प्रयोगात्मक अभ्यास करने पड़ते हैं। पहलवान बनने के लिए अखाड़े में जाकर छोटी-छोटी कसरतों का सिलसिला शुरू करना पड़ता है। आंतरिक दृष्टि से आनंद-विभोर और बहिरंग दृष्टि से श्रद्धा का पात्र बना हुआ भूदेव यह अनुभव करता है कि आत्म विज्ञान ही जीवन का सबसे बड़ा पुरुषार्थ और संसार का सबसे बड़ा लाभ है।

❐

आर्ष अध्यात्म का उज्ज्वल भविष्य

आध्यात्मिकता का अर्थ है–उस चेतना पर विश्वास करना जो प्राणधारियों को, एक के साथ दूसरे को जोड़ती है। सुख–संवर्द्धन और दु:ख–निवारण की स्वाभाविक आकांक्षा को अपने शरीर या परिवार तक सीमित न रखकर अधिकाधिक व्यापक–विस्तृत बनाती है। अध्यात्म का सीधा अर्थ आत्मीयता के विस्तार के रूप में किया जा सकता है। 'प्रेम ही परमेश्वर है' का सिद्धांत यहाँ अक्षरश: लागू होता है। अंतरात्मा की सघन पिपासा, प्रेम का अमृत पान करने की होती है। इसी लोभ में उसे निरंतर भटकना पड़ता है। छल का व्यापार प्रेम, आश्वासन के सहारे ही चलता है। वासना के आकर्षण में प्रेम की संभावना ही उन्माद पैदा करती है। यह तो कृत्रिम और छद्म प्रेम की बात हुई, उसकी यथार्थता इतनी मार्मिक होती है कि प्रेम देने वाला और प्रेम पाने वाला दोनों ही धन्य हो जाते हैं।

मानवी अंत:करण की मूल प्रवृत्ति उदात्त और पवित्र है। इसीलिए उसे ईश्वरीय चेतना कहा गया है। दुर्भावनाएँ और दुष्प्रवृत्तियाँ हमारी प्रकृति नहीं, विकृति हैं जो अनुपयुक्त व्यक्तियों और परिस्थितियों की संगति में किसी पर लद जाती हैं और आकांक्षा के मर्मस्थल में घुन की तरह प्रवेश करके जीवनक्रम को खोखला बनाती चली जाती हैं। मनुष्य स्वभावत:स्वार्थी नहीं और न उद्धत, न कृपण। उसमें उदारता की असीम मात्रा भरी पड़ी है। पवित्र जीवन के साथ जुड़े गौरव की सहज अनुभूति सबको रहती है। स्वयं पवित्र न बना जा सके तो भी दूसरे महामानवों के सामने सहज ही सिर झुक जाता है और श्रेष्ठता के पक्ष में अपना सहज समर्थन व्यक्त करना होता है।

आध्यात्मिकता और आस्तिकता एक ही लक्ष्य के दो प्रयोजन हैं। ईश्वर की दार्शनिक व्याख्या मानवी अंत:करण में विद्यमान उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता के रूप में ही की जा सकती है। कर्त्तव्य–पालन में अभिरुचि और अवांछनीयता से निवृत्ति की प्रेरणा को ईश्वरीय प्रेरणा माना गया है। ममत्व का अधिकाधिक विस्तार और सत्प्रवृत्तियों के

अभिवर्द्धन में भावनापूर्वक योगदान को ईश्वरीय अनुग्रह का प्रत्यक्ष चिह्न माना जा सकता है। करुणा और उदारता की स्नेहिल सद्भावनाएँ, अपनी सुविधाओं को दूसरे अधिक जरूरतमंदों के पक्ष में छोड़ने की-दूसरों के कष्ट अपने ऊपर ओढ़ने की त्याग-बलिदान भावना को आस्तिकता की प्रत्यक्ष परिणति माना गया है। ईश्वरनिष्ठा और भक्ति का यही फलितार्थ है।

सांप्रदायिक आस्तिकता दूसरी वस्तु है। उसमें ईश्वर को एक व्यक्ति विशेष मानकर स्तुति, प्रशंसा अथवा भेंट पूजा का प्रलोभन देकर प्रसन्न किया जाता है और धन, संतान, सफलता, सम्मान तथा स्वर्गमुक्ति जैसे मूल्यवान अनुदान बिना मूल्य देने के लिए आग्रह किया जाता है। यह सांप्रदायिक आस्तिकता धर्मजीवी लोगों के निहित स्वार्थों की पूर्ति तो करती है, पर भावुक भक्त भ्रम-जंजाल में ही उलझे हुए धन और समय गँवाते रहते हैं। दार्शनिक विवेचना में इस भक्तिमार्गी आस्तिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। वेदांत ने आत्मा के परिष्कृत स्तर को ही परमात्मा माना है और उत्कृष्टता से भरा-पूरा अंतःकरण ही ब्रह्मलोक है। अपनी महानता पर विश्वास और तदनुरूप श्रेष्ठ आचरण का अवलंबन-यही है सच्ची आस्तिकता। इसी के परिपोषण में साधना और उपासना का विशालकाय ढाँचा खड़ा किया गया है।

वैज्ञानिक जानते हैं कि इस विशाल विश्व-ब्रह्मांड के अगणित ग्रहपिंडों के अंतर्गत चलने वाली चित्र-विचित्र हलचलों के बीच एक सुव्यवस्थित तारतम्य है। प्रकृति की सूक्ष्म शक्तियाँ अणु-परमाणुओं से लेकर ग्रहपिंडों तक को एक-दूसरे के साथ घनिष्ठतापूर्वक जोड़ती हैं और पारस्परिक सहयोग एवं आदान-प्रदान के आधार पर सृष्टि-संचालन करती हैं। यह जड़ जगत की आध्यात्मिकता है। चेतनजगत में भी यही नियम काम करते हैं। मंदमति एवं निकृष्ट स्तर वाले लोगों की बात दूसरी है। जिसका व्यक्तित्व उभरा और निखरा होगा उसे अपनी अंतःचेतना एवं गतिविधियों का निर्धारण इसी आधार पर करना होगा कि ससीमता क्रमशः असीमता में विकसित होती चले। स्वार्थ को सुविस्तृत करके परमार्थ स्तर पर जा पहुँचे। विभिन्न काय कलेवरों

में बिखरी हुई चेतना को एक सत्ता के रूप में देखने की दार्शनिक दृष्टि **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** की अनुभूति में परिणत होती है और छोटे परिवार तक मोह निमग्न रहने के स्थान पर **वसुधैव कुटुम्बकम्** का आदर्श विचार व्यवहार में ओत-प्रोत रहता है।

अनेकता में समाविष्ट एकता की झांकी कर सकना ही ईश्वर दर्शन है। सृष्टि का प्रत्येक सजीव और निर्जीव घटक एक-दूसरे से प्रभावित ही नहीं होता, वरन परस्पर पूरक और अभिन्न भी है। एक की संवेदना दूसरे को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में प्रभावित किए बिना नहीं रह सकती। इसलिए अमुक व्यक्तित्वों की सुख-सुविधा को ध्यान में न रखते हुए समस्त विश्व का हितसाधन करने की दृष्टि रखकर ही कोई जीवन की रीति-नीति निर्धारित की जाए, यह दृष्टि दर्शन तत्त्वदर्शन का प्रत्यक्ष प्रतिफल है। जब यह स्वत:सिद्ध सत्य चेतना के गहन मर्मस्थल तक प्रवेश कर जाए और निरंतर इसी स्तर की अनुभूति होने लगे तो समझना चाहिए कि अध्यात्म और जीवन का समन्वय हो चला।

व्यक्तिवादी पृथकता, स्वार्थगत संकीर्णता, दर्पपूर्ण अहंकारिता, कृपण संग्रहशीलता और कुटुंबियों तक मोह-ममता की सीमाबद्धता जितनी ही सघन होगी व्यक्ति उतना ही अनात्मवादी माना जाएगा। ऐसा व्यक्ति यदि पूजा-पाठ करता होगा तो उसे नास्तिक अथवा ईश्वर अविश्वासी तो नहीं कह सकते किंतु अध्यात्मवादी वर्ग में भी सम्मिलित नहीं किया जा सकता। पूजा से अध्यात्म के अभिवर्द्धन में सहायता मिल सकती है, पर दोनों को एक नहीं कह सकते। धर्म और ईश्वर के नाम पर प्राणिवध के कुकृत्य तक होते हैं। पूजा करने वालों में असामाजिक और अवांछनीय तत्त्वों की मात्रा कम नहीं है। पुजारी और अध्यात्मवादी निश्चित रूप से एक पंक्ति में नहीं बिठाए जा सकते।

पूजा की इतिश्री अमुक कर्मकांडों की पूर्ति के साथ ही हो जाती है, किंतु अध्यात्म व्यक्ति के अंतरंग और बहिरंग जीवन में व्यावहारिक हेर-फेर करने के लिए विवश करता है। आत्मसुधार का आत्मनिर्माण

के रूप में अंतरंग का आस्थाओं, मान्यताओं, आकांक्षाओं और अभिरुचियों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होता है। आत्म-संयम, इंद्रियनिग्रह, मर्यादा पालन, सादगी, सज्जनता, नम्रता, चरित्र गठन, कर्त्तव्यपालन, धैर्य, साहस, संतुलन जैसी अनेक सत्प्रवृत्तियाँ अंतरंग आध्यात्मिकता के वृक्ष पर फल-फूलों की तरह अनायास ही लदने लगती हैं। ऐसे व्यक्ति को महामानव स्तर के उत्कृष्ट व्यक्तित्व से सुसंपन्न देखा जा सकता है।

बहिरंग जीवन में आध्यात्मिकता की प्रतिक्रिया श्रमशीलता, स्वच्छता, सुव्यवस्था, सद्व्यवहार, ईमानदारी, शालीनता, न्यायनिष्ठा, जनसेवा, उदारता जैसे आचरणों में प्रकट होती है। ऐसे लोगों को समाजनिष्ठ, कर्त्तव्यनिष्ठ एवं धर्मनिष्ठ कहा जा सकता है। मर्यादाओं का उल्लंघन वे करते नहीं, साथ ही अनीति को सहन भी नहीं करते। अवांछनीयता के विरुद्ध उनका संघर्ष अनवरत रूप से चलता रहता है। न वे किसी से अनावश्यक मोह बढ़ाते हैं और न किसी को स्नेह सद्भाव से वंचित करते हैं।

आध्यात्मिकता को प्राचीन भाषा में ब्रह्मविद्या कहते हैं। यह उत्कृष्ट चिंतन और आदर्श कर्तृत्व की एक परिष्कृत जीवनपद्धति है। जिसे अपनाने पर भीतर संतोष और बाहर सम्मान की वे उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं, जिन पर कुबेर और इंद्र जितने वैभव को निछावर किया जा सके। व्यक्तित्व की पूर्णता और प्रखरता का सारा आधार आध्यात्मिकता पर ही अवलंबित माना जा सकता है।

अर्थशास्त्र का निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति और समाज को समुन्नत सुविधा साधनसंपन्न बनाने के लिए-(१) उत्पादन बढ़ाने, (२) पूँजी को उपयोगी कार्यों में लगाने तथा (३) संपत्ति के उचित वितरण का ध्यान रखे जाने में पूरी सावधानी बरती जानी चाहिए। यदि इन सबमें आलस्य-प्रमाद बरता जाएगा अथवा अव्यवस्था फैलाई जाएगी तो अर्थसंकट की विपत्ति का सामना करना पड़ेगा और सबको अकारण ही अवांछनीय स्थिति में पड़ना पड़ेगा। अध्यात्मशास्त्र के नियम भी अर्थशास्त्र की ही तरह हैं। उनका निष्कर्ष है कि (१) व्यक्तित्व,

प्रतिभा और सामर्थ्य को निरंतर बढ़ाया जाए, (२) संपत्ति और विभूतियों को सत्प्रयोजन में लगाया जाए, (३) ज्ञान और तप से जो लोग ऊँचे उठें उनकी उपलब्धियों से समस्त समाज को लाभान्वित होने दिया जाए। यदि इन तथ्यों का ध्यान न रखा जाए तो आत्मबल अवांछनीय आसुरी दिशा में भी लग सकता है और रावण, हिरण्यकशिपु, भस्मासुर जैसे तपस्वी भी विनाशकारी विभीषिकाएँ उत्पन्न कर सकते हैं। इसलिए मात्र साधना, उपासना, तपस्या आदि आत्मिक उपार्जनों पर ही ध्यान केंद्रित न किया जाए वरन यह भी देखा जाए कि उस भावनात्मक उत्पादन का प्रयोग उपयोग किस प्रयोजन के लिए किया जा रहा है?

(१) भूमि (२) श्रम (३) पूँजी (४) संगठन (५) साहस। इन पाँच साधनों को प्रधान उत्पादन उपकरण माना गया है। इनका उपयोग कहाँ, किस तरह हो रहा है इस पर कड़ी दृष्टि रखी जानी चाहिए, अन्यथा इनका दुरुपयोग विघातक उत्पादन भी खड़े कर सकता है और उनसे विपत्तियों की विभीषिका सहने के लिए विवश होना पड़ सकता है। इच्छानुसार कुछ भी उत्पादन करने लगने की स्वतंत्रता को सीमित ही किया जाना चाहिए। समाज और राष्ट्र का कर्त्तव्य है कि विलासी प्रसाधनों पर नियंत्रण रखें और हानिकारक वस्तुएँ उत्पन्न करने की निर्बाध छूट को सहन न करें।

प्रो. टामस, जेवन्स, डॉ. मार्शल प्रभृति श्रम विशेषज्ञ यही कहते रहे हैं कि समुचित श्रम की न्यूनाधिकता ही कायिक और मानसिक स्वास्थ्य संतुलन को नष्ट करने का प्रधान कारण है। व्यक्ति के जीवनक्रम में ऐसे श्रम का समुचित स्थान रहना चाहिए जिसमें उपयोगी एवं आवश्यक तत्त्वों का बाहुल्य हो। साथ ही उसकी मात्रा भी स्वास्थ्य संतुलन की दृष्टि से इतनी न रहनी चाहिए जो न न्यून हो और न अधिक।

अध्यात्मशास्त्र का मंतव्य यह है कि हर व्यक्ति को अपने कायिक और मानसिक क्षेत्र को उर्वर भूमि मानकर उसमें सद्गुणों की, सत्कर्मों की, सत्स्वभाव की कृषि करनी चाहिए। सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों की बहुमूल्य फसलें उगानी चाहिए। मात्र धन ही संपदा नहीं है। असली कमाई कृषि फार्मों, कारखानों आदि में ही नहीं होती, वरन

वास्तविक दौलत तो कायकलेवर एवं मन:संस्थान में उपार्जित की जाती है। प्रतिभा, समर्थता और गरिमा को बढ़ाने के लिए भी उसी लगन और तत्परता के साथ पुरुषार्थ किया जाना चाहिए जिस मनोयोग से कि धन कमाने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहा जाता है। व्यक्ति और समाज को समुन्नत बनाने के लिए धन से भी बढ़कर प्रतिभाशाली और उच्च चरित्र वाले नागरिकों की आवश्यकता पड़ती है।

प्रत्येक व्यक्ति को निर्वाह के लिए श्रम करके आजीविका उपार्जन करना पड़ता है। अनेक लोगों द्वारा हों सकने वाला श्रम तथा उत्पादन अपने कल-कारखानों के आधार पर स्वयं ही कर लें। इससे एक ओर कुछ लोग धन कुबेर होते चले जाते हैं और कुछ के लिए आजीविका का द्वार अवरुद्ध होता जाता है।

मनोबल बढ़ाने के लिए दुस्साहस और दुष्कर्मों का अवलंबन अवांछनीय है। असुर पक्ष में तांत्रिक, वाममार्गी द्वारा उन उपायों को बेहिचक प्रयुक्त किया जाता है, जिनकी गणना न्याय नीति की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। उनके संप्रदायों में पशुबलि प्रथा प्रचलित है। कहीं-कहीं साधनारत व्यक्ति मादक द्रव्यों का भी सेवन करते हैं। कापालिक और अघोर संप्रदायों में ऐसे कृत्य भी मनस्वी एवं तेजस्वी बनाने के लिए काम में लाए जाते हैं जिन्हें अनुकरणीय एवं प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। कई सिद्धयोगी अपनी सिद्धियों को अपने को चमत्कारी सिद्ध प्रख्यात करने में अथवा स्वर्ग मुक्ति के व्यक्तिगत लाभ में ही खरच कर डालते हैं। अर्थशास्त्र की तरह अध्यात्मशास्त्र का भी यही नियम है कि विशिष्ट उत्पादन की वह पूँजी जो निर्वाह खरच से बच जाए, ऐसे ही कामों में लगाई जानी चाहिए जिससे अतिरिक्त उत्पादन बढ़ने में सहायता मिले, भले ही पूँजी धन के रूप में हो अथवा विभूतियों के रूप में।

अर्थशास्त्री प्रो. वेनहम और प्रो. मार्शल इस बात के पक्ष में हैं कि जिस प्रकार आचरण में नैतिक-अनैतिक का अंतर किया गया है और समाज व्यवस्था में न्याय-अन्याय का वर्गीकरण किया गया है, उसी प्रकार उत्पादन में वांछनीय और अवांछनीय का विभाजन किया

जाना चाहिए। ऐसे नियम बनाए जाने चाहिए जिनके कारण अवांछनीय उत्पादन की दिशा में बढ़ने वालों को कठिनाइयों का सामना करना पड़े। साथ ही यह व्यवस्था भी होनी चाहिए कि उपयोगी उत्पादन के लिए उत्सुक लोगों की अड़चनें सरल बनाने के लिए सरकार एवं समाज का सहयोग उपलब्ध रहे।

धन की ही भाँति प्रतिभा, ज्ञान और परमार्थ का उत्पादन निरंतर किया जाना चाहिए। यह आत्मिक क्षेत्र की सक्रियता है। जिस तरह सामर्थ्य रहते हुए भी कुछ लोग बाल-बच्चे कमाऊ हो जाने, बाल पक जाने, संपत्ति बहुत होने का बहाना करके यदि निष्क्रिय पड़े रहते हैं तो यह एक प्रकार का सामाजिक अपराध है। पूँजी चाहे व्यक्ति विशेष के पास हो अथवा किसी संगठन के पास, उनकी मात्रा का महत्त्व नहीं। राष्ट्रीय दृष्टि से उसी संपत्ति की गणना की जानी चाहिए जो जनसुविधा के साधन जुटाने में संलग्न रहे।

इसी प्रकार ज्ञान की संपदा जिनके पास है, वे उसको उदार धनीमानियों की तरह लोकमंगल के लिए नियोजित करने का सत्साहस दिखाएँ। ढलती उम्र में बच्चों के समर्थ हो जाने अथवा रिटायर होने पर आमतौर से लोग बेकारी मटरगश्ती में दिन काटते हैं। यह समाज का ऋणभार बैठने की तरह ही हेय है। किसी की भी प्रगति एकाकी प्रयत्न से नहीं हो सकती जो भी ऊँचा चढ़ा या आगे बढ़ा है उसे समाज के सहयोग से ही इस प्रकार लाभान्वित होने का अवसर मिला है। अस्तु, उसका कानूनी न सही नैतिक उत्तरदायित्व यह है कि जब भी अवसर मिले समाज का ऋण चुकाने के लिए अपने बचे हुए समय, ज्ञान एवं प्रभाव को लोकमंगल के लिए प्रयुक्त करे। जमीन में सोना गाड़ने अथवा जेवर लटकाए फिरने वाले लोग जिस तरह पूँजीगत लाभ से समाज में उद्योग-व्यवसायों में गतिरोध उत्पन्न करते हैं, उस लाभ से अनेकों को रोजी प्राप्त करने में अवरोध उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार आत्मिक एवं बौद्धिक क्षमता संपन्न लोग भी यदि अपनी विभूतियों को अपने या परिवार तक के लिए ही अवरुद्ध करते हैं तो उससे मानव समाज की प्रगति में बाधा ही

उत्पन्न होती है। विभूतिवान व्यक्ति यदि अपने को मिला विशेष ईश्वरीय अनुदान विलासी प्रयोजनों में खरच कर डालते हैं, स्वयं के शौक-मौज तक सीमित रहते हैं तो समझना चाहिए कि भले ही यह सामान्य प्रचलन जैसा दीखे, आत्मिक दृष्टिकोण के अनुसार इस रीति-नीति को गर्हित ही ठहराया जाएगा।

उत्पादन की तरह ही वितरण व्यवस्था का भी महत्त्व है। उत्पादन को यदि कुछ लोग अपने कब्जे में करके रोक रखें और उपभोक्ताओं को उनके लिए तरसाकर मनमाने दाम वसूल करें तो यह एक प्रकार से समाजद्रोह ही होगा। जिस प्रकार पूँजी को गतिशील रहना चाहिए, उसी प्रकार उत्पादन को उपभोक्ता के लिए तुरंत उपलब्ध होने की भी व्यवस्था रहनी चाहिए।

मनुष्य केवल धन ही नहीं कमाता, उसके उपादान में अन्य अनेक ऐसी विशेषताएँ भी सम्मिलित हैं जो वैयक्तिक एवं सामाजिक सुख-शांति को बढ़ाने में धन से भी अधिक कारगर सिद्ध होती हैं। धन के वितरण का लाभ सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए साम्यवाद और आत्मवाद दोनों ही एक स्वर से समर्थक हैं। ठीक इसी प्रकार मनुष्य के पास यदि अन्य प्रकार की विशेषताएँ और विभूतियाँ हैं तो उसका प्रसार, वितरण अधिक व्यापक क्षेत्र में होना चाहिए। उससे अधिक लोगों को लाभान्वित होना चाहिए। इन प्रतिपादनों का अर्थशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र दोनों ही समान रूप से समर्थन करते हैं। इससे स्पष्ट है कि दोनों का क्षेत्र भले ही भिन्न हो, लक्ष्य एक है।

अध्यात्म के सिद्धांत व्यक्तिगत जीवन को अधिक पवित्र एवं शालीन बनाने की भूमिका संपादित करते हैं। उनसे सामाजिक सुव्यवस्था की आधारशिला भी रखी जाती है और सर्वजनीन प्रगति एवं सुख-शांति का पथ प्रशस्त होता है।

शरीर की नश्वरता, आत्मा की अमरता, कर्मफल का सुनिश्चित होना तथा परलोक पुनर्जन्म की संभावना-यह चार सिद्धांत ऐसे हैं जो किसी न किसी रूप में प्रायः अध्यात्म की सभी शाखाओं में प्रतिपादित किए गए हैं। यों कई धर्मों में पापों के क्षमा हो जाने और मरणोत्तर

जीवन की स्थिति में भिन्न मान्यताएँ भी हैं, पर वे लोच-लचक के रूप में ही हैं। इतनी कठोर नहीं कि उनसे उपर्युक्त चार सिद्धांत जड़-मूल से ही कट जाते हों। मरणोत्तर जीवन किसी न किसी रूप में बना ही रहता है। कर्म को भले ही नैतिक रूप में न मानकर सांप्रदायिक विश्वासों की परिधि में लपेट लिया गया हो तो भी यह नहीं कहा गया कि कर्म का कोई फल नहीं मिलता। इस प्रकार छोटे मतभेदों के रहते हुए भी मूल सिद्धांतों के प्रति प्रायः सहमति ही पाई जाती है।

वर्तमान जीवन में शुभ कर्म करने पर भले ही इस जन्म में उसका सुखद प्रतिफल न मिले, पर मरणोत्तर जीवन में उसका मंगलमय परिणाम उपलब्ध हो जाएगा-इस विश्वास के आधार पर लोग त्याग और बलिदान के बड़े-बड़े साहसपूर्ण कदम उठाते रहते हैं। इस जन्म में किए गए पापों के दंड से भले ही इस समय किसी चतुरता से बचाव कर लिया जाए, पर आगे चलकर उसका दंड भुगतना ही पड़ेगा-यह सोचकर मनुष्य दुष्कर्म करने से अपने आप को रोक लेता है और कुमार्ग पर पैर बढ़ाने से डरता-झिझकता है। यदि इस मान्यता को हटा दिया जाए तो तत्काल शुभ कर्म का सत्परिणाम न मिलने की स्थिति में कोई उसके लिए उत्साह प्रदर्शित न करेगा। इसी प्रकार पापदंड से सामाजिक बचाव कर लेने की उपलब्ध तरकीबें ढूँढ़कर फिर कोई अनीति अपनाने पर मिलने वाले लाभों को छोड़ने की इच्छा न करेगा। ऐसी स्थिति में व्यक्ति और समाज में अनैतिक अवांछनीय तत्त्वों की बाढ़ आ जाएगी और मर्यादाओं के बाँध टूट जाएँगे। धार्मिक मान्यताओं का अंकुश रहने पर भी जब लोग दुष्प्रवृतियाँ अपनाने में संकोच नहीं करते तो मानसिक नियंत्रण न रहने की स्थिति में तो भयंकर स्वेच्छाचार फैल जाएगा और उस उच्छृंखलता से समूची मनुष्य जाति का, समस्त संसार का भारी अहित होगा।

मरणोत्तर जीवन एवं पुनर्जन्म की मान्यता हमें चिंतन के कितने ही उत्कृष्ट आधार प्रदान करती है। आज हम हिंदू, भारतीय एवं पुरुष हैं। कल के जन्म में ईसाई, यूरोपियन या स्त्री हो सकते हैं। ऐसी दशा में क्यों ऐसे कलह के बीज बोएँ, क्यों ऐसी अनैतिक परंपराएँ प्रस्तुत

करें जो अगले जन्म में अपने लिए ही विपत्ति खड़ी कर दें। आज का सत्ताधीश, कुलीन, मनुष्य सोचता है कि कल प्रजाजन, अछूत एवं पशु बनना पड़ सकता है। उस स्थिति में उच्च स्थिति वालों का स्वेच्छाचार उनके लिए कितना कष्टकारक होगा। इस तरह के विचार दूसरों की स्थिति में अपने को रखने और उदात्त दृष्टिकोण अपनाने की प्रेरणा देते हैं।

'मैटर' का विश्लेषण ९२ तत्त्वों (ऐलीमेंटस) के आधार पर किया जाता है। तत्त्वों का भेद उनके पृथक-पृथक गुण-कर्म के आधार पर किया जाता है। इन तत्त्वों में चेतना गुण किसी के भीतर भी नहीं पाया जाता। ऐसी दशा में चेतना को एक स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता। भले ही वह अमुक शरीर में अमुक स्तर की हो, पर है वह स्वतंत्र ही। चेतना के स्तर का शरीर मिलना अथवा शरीर के स्तर की चेतना उत्पन्न होना इस विवाद में प्रधान और गौण होने का ही मतभेद है। चेतना के स्वतंत्र अस्तित्व की अस्वीकृति नहीं है।

मृतात्माओं की हलचलों के जो विवरण समय-समय पर मिलते रहते हैं और पिछले जन्मों की सही स्मृति के प्रमाण देने वाली घटनाओं के प्रत्यक्ष परिचय अब इतनी अधिक संख्या में सामने आ गए हैं कि उन्हें झुठलाया नहीं जा सकता। ऐसी दशा में पिछली पीढ़ी के वैज्ञानिकों की आत्मा का अस्तित्व न होने की बात सहज ही निरस्त हो जाती है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आत्मा के अस्तित्व को ही सिद्ध करते हैं। हमारा अस्तित्व मुक्ति में, मृत्यु के साथ, अथवा अन्य किसी स्थिति में किसी समय समाप्त हो जाएगा-इस कल्पना को कितना ही श्रम करने पर भी स्वीकार नहीं कर सकते। यह स्वत: प्रमाण मन:शास्त्र के आधार पर इस स्तर के समझे जा सकते हैं कि जीवचेतना की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करने के लिए संतोषजनक माना जा सके।

पदार्थविज्ञानी यह जानते हैं कि तत्त्वों के मूलभूत गुणधर्म को नहीं बदला जा सकता है। उनके सम्मिश्रण से पदार्थों की शकल बदल

सकती है। रंग को गंध में, गंध को स्वाद में, स्वाद को रूप में, रूप को स्पर्श में नहीं बदला जा सकता। हाँ, वे अपने मूल रूप में बने रहकर अन्य प्रकार की शकल या स्थिति तो बना सकते हैं, पर रहेंगे सजातीय ही। दो प्रकार की गंधें मिलकर तीसरे प्रकार की गंध बन सकती हैं, दो प्रकार के स्वाद मिलकर तीसरे प्रकार का स्वाद बन सकता है, पर वे रहेंगे गंध या स्वाद ही, वे रूप या रंग नहीं बन सकते। विभिन्न प्रकार के परमाणुओं में विभिन्न प्रकार की हलचलें तो हैं, पर उनमें चेतना का कहीं अता-पता नहीं मिलता।

मस्तिष्क को संवेदना का आधार तो माना जा सकता है, पर उसके कण स्वयं संवेदनशील नहीं हैं। यदि होते तो मरण के उपरांत भी अनुभूतियाँ करते रहते। ध्वनि या प्रकाश के कंपन जड़ हैं, मस्तिष्कीय अणु भी जड़ हैं। दोनों के मिलन में जो विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं, उनमें पदार्थ को कारण नहीं माना जा सकता। चेतना की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार किए बिना प्राणी को चेतना सिद्ध करने के लिए जितने तर्क पिछले दिनों प्रस्तुत किए जाते रहे हैं, वे अब सभी क्रमशः अपनी तेजस्विता खोते जा रहे हैं। अमुक रसायनों या परमाणुओं के मिलने से चेतना की उत्पत्ति होती है और उनके बिछुड़ने से समाप्ति। यह तर्क आरंभ में बहुत आकर्षक प्रतीत हुआ था और नास्तिकवाद ने जीव को इसी रूप में बताया था, पर अब उनके अपने ही तर्क, अपने प्रतिपादन को स्वयं काट रहे हैं कि मूल तत्त्व अपनी प्रकृति नहीं बदल सकता। विचारहीन परमाणु-संवेदनशील बन सकें-ऐसा कोई आधार अभी तक नहीं खोजा जा सका है। जड़ के साथ चेतना घुली हुई हो तो उसके साथ-साथ जड़ में भी परिवर्तन हो सकते हैं। अभी इतना ही सिद्ध हो सका है। किसी परखनली में बिना चेतन जीवाणुओं की सहायता के मात्र रासायनिक पदार्थों की सहायता से जीवन उत्पन्न कर सकना संभव नहीं हुआ है। परखनली के सहारे चल रहे सारे प्रयोग अभी इस दिशा में एक भी सफलता की किरण नहीं पा सके हैं कि रासायनिक संयोग से जीवन का निर्माण संभव किया जा सके।

लौहखंडों के घर्षण से बिजली पैदा होती है तो भी बिजली लोहा नहीं है। परंतु संचालन से संवेदना स्नायु नहीं हो सकते। अमुक रासायनिक पदार्थों के संयोग से जीवन उत्पन्न होता है तो भी वे पदार्थ जीवित नहीं हैं। चेतना का अवतरण कर सकने के माध्यम मात्र हैं।

हर्ष, शोक, क्रोध, प्रेम, आशा, निराशा, सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि विभिन्न संवेदनाएँ किन परमाणुओं के मिलने से किस प्रकार उत्पन्न हो सकती हैं, इस संदर्भ में विज्ञान सर्वथा निरुत्तर है।

अपने बचपन के दिनों में विज्ञान का नया उत्साह आत्मा, ईश्वर और धर्म को अप्रामाणिक एवं अनावश्यक मानता था और इनके विरुद्ध जोर-शोर से गोलाबारी करता था, पर अब स्थिति वैसी नहीं रही। न केवल प्रमाणों के आधार पर, वरन व्यक्ति और समाज के लिए उपयोगी होने की कसौटी पर भी अध्यात्म सिद्धांतों को एक-एक कदम चलते हुए मान्यता ही दी जा रही है।

मानव जीवन को उत्कृष्टता की, पूर्णता की, लक्ष्यप्राप्ति की अंतिम मंजिल तक पहुँचाने का एकमात्र उपाय अध्यात्म ही है। इससे लोक और परलोक की सार्थकता सुनिश्चित होती है। परलोक में स्वर्ग और मुक्ति का लाभ उसे ही मिलता है जो अपने अंतःकरण को आध्यात्मिक आदर्शों के अनुरूप ढाल लेने में सफल होता है। आत्मसाक्षात्कार, ईश्वर-दर्शन एवं ब्रह्मप्राप्ति की उपलब्धि का एक ही मार्ग है कि आत्मा पर चढ़े मल आवरण विक्षेपों को हटाकर उसे शुद्ध स्वरूप में विकसित किया जाए। लौकिक जीवन का प्रत्येक क्षेत्र उसी के लिए मंगलमय बनता है जिसने अपने गुण, कर्म, स्वभाव एवं दृष्टिकोण को परिष्कृत कर लिया है। श्रेयपथ पर चलने वाले लोग ही महापुरुष बनते हैं और इतिहास में अपना अनुकरणीय आदर्श छोड़ जाते हैं। इस शरीर को अमर बनाने का सौभाग्य ऐसे ही कर्मठ लोगों को मिलता है।

सुदृढ़ स्वास्थ्य, समर्थ मन, स्नेह-सहयोग, क्रिया-कौशल, समुचित धन, सुदृढ़ दांपत्य, सुसंस्कृत संतान, प्रगतिशील विकास-क्रम, श्रद्धा सम्मान, सुव्यवस्थित एवं संतुष्ट जीवन का आधार केवल

एक ही है–अध्यात्म। अपने को सुधारने से संसार सुधर जाता है। अपने को ठीक कर लेने से चारों ओर का वातावरण ठीक बनने में देर नहीं लगती। यह एक निश्चित तथ्य है कि जो अपने को सुधार न सका, अपनी गतिविधि को सुव्यवस्थित न कर सका, उसका इहलौकिक और पारलौकिक भविष्य अंधकारमय ही बना रहेगा। जो इस लोक को नहीं सँभाल सका उसका परलोक क्या सँभलेगा। जो इस जीवन में नारकीय मनोभूमि लिए बैठा है, उसे परलोक में स्वर्ग मिलेगा, ऐसी आशा करना व्यर्थ है। स्वर्ग की रचना इसी जीवन में करनी पड़ती है, दुष्प्रवृत्तियों के भव-बंधनों से इसी जीवन में मुक्त होना पड़ता है, परलोक में यही सफलताएँ साकार बन जाती हैं। इसलिए मनीषियों ने मनुष्य की सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता उसकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति को ही माना है।

आज सब कुछ औंधा विकृत हो रहा है। अध्यात्म की भी दुर्गति हो रही है। अनात्मवादी, मानव जीवन को पतित करने वाली हेय मान्यताएँ अध्यात्म का आवरण ओढ़े बैठी हैं। जो कोई उनके चंगुल में फँस जाता है उसी की दुर्गति होती है। जीवन के क्रमिक विकास का सुनिश्चित मार्ग छोड़कर, लोग घर छोड़कर भाग खड़े होते हैं। अस्त-व्यस्त जीवन, नशेबाजी, आलस, प्रमाद, विचित्र वेश-विन्यास, संसार को मिथ्या कहने का फैशन–यही आज के अध्यात्मवादी महात्माओं का स्वरूप है। जो उनके चंगुल में फँस जाता है, उसे भी यही छूत लगा देते हैं। गृहस्थी का अध्यात्म और भी विलक्षण है। वे किसी-किसी मंत्रतंत्र की दस-पाँच माला फेर कर लाखों-करोड़ों रुपये मूल्य के वरदान पाने के लिए देवताओं की मनौती मानते रहते हैं। दर्शन, स्नान, कथा, वार्त्ता जैसे छोटे-छोटे कर्मकांडों द्वारा जन्म भर के किए पापों के दंड से बच निकलने की तरकीब ढूँढ़ते रहते हैं। उनके लिए स्वर्गमुक्ति एक बाल कल्पना मात्र होती है, जो छोटा सा कर्मकांड कर लेने मात्र में मिल जाती है। इन भोले लोगों को ऐसे ही प्रलोभन देकर तथाकथित धर्मध्वजी ठगते खाते हैं।

इन प्रवंचनाओं में आज लाखों व्यक्ति भटक रहे हैं। उन्हें लाभ तो मिलना ही क्या था? धन और समय की बरबादी ही हो सकती थी, सो होती रहती है। कागज के बने नकली शेर से मनोरंजन मात्र हो सकता है, असली सिंह के गुण उसमें कहाँ होते हैं? असली अध्यात्म के द्वारा लोक और परलोक का जो मंगलमय प्रतिफल मिल सकता था वह इस विकृत, औंधे एवं नकली अध्यात्म के द्वारा कैसे संभव हो सकता है। इस मार्ग पर चलने वालों की असफलता को देखते हुए सर्वसाधारण के मन में उसकी ओर विरक्ति, उपेक्षा एवं अनास्था पैदा हो रही है। अब धर्म और अध्यात्म की चर्चा कान भौं सिकोड़ते हुए ही सुनी जाती है। हर समझदार व्यक्ति अपने बच्चों को उससे दूर रखने का प्रयत्न करता है ताकि वे भी इस भ्रम-जंजाल में फँसकर अपना भविष्य अंधकारमय न बनाने लगें।

प्राचीनकाल में ऐसी बात नहीं थी। लोग अपने बालकों को ऋषियों के आश्रमों में पढ़ने को इसलिए भरती करते थे कि अध्यात्म का पारस स्पर्श करके उन लोहे जैसे बालकों को शोभायमान स्वर्ण बनने का अवसर मिलेगा। आग के संपर्क में जो भी वस्तु आती है गरम हो जाती है। अध्यात्म के संपर्क में आने वाले मनुष्यों का भी तेजस्वी, मनस्वी और यशस्वी होना स्वाभाविक है। जीवन की दशा ठीक कर देने और उस परिष्कृत दृष्टिकोण से जिंदगी जीने की प्रकाश-प्रेरणा का नाम ही तो अध्यात्म है। जिसे यह कल्पवृक्ष मिल गया उसे किसी बात की कमी नहीं रहती। जिसने इस अमृत को पा लिया उसे किसी अतृप्ति का कष्ट नहीं सहना पड़ता। अध्यात्म का प्रकाश जिसके भी हृदय में प्रकाशवान हो उठा, उसके चेहरे पर संतोष, उल्लास, आशा एवं श्रेष्ठता की किरणें निश्चित रूप से बिखरी पड़ी होंगी। शोक, संताप उसे छू भी न गए होंगे। उसके जीवन का प्रत्येक क्षेत्र सुविकसित बन रहा होगा। वाणी तथा क्रिया में श्रेष्ठता टपक रही होगी और उसका व्यक्तित्व अपनी उत्कृष्टता में दूसरे अनेकों को बल एवं प्रकाश प्रदान कर रहा होगा।

असली अध्यात्म का स्वरूप आज लुप्तप्राय बन चुका है। जिसने अपने जीवन में आध्यात्मिक आदर्शों को उतारा हो ऐसे मनीषी ढूढ़े नहीं मिलते। धर्मग्रंथ पढ़ने-सुनने की, कथा-वार्त्ता एवं पूजा-पाठ की वस्तु बन गए हैं। उनमें जिस जीवन निर्माण का बिखरा हुआ प्रशिक्षण है, उसे आज की स्थिति के अनुरूप किस प्रकार कर्मरूप में परिणत किया जाए? उसके द्वारा प्राप्त होने वाली सफलताओं को प्रत्यक्ष करके कैसे लोगों को उस महत्ता के लिए प्रभावित एवं आकर्षित किया जाए इसका कोई विधान सामने नहीं है। प्राचीनकाल की भाँति आज भी अध्यात्म को अपनाकर मनुष्य अपने व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन को सुविकसित बना सकता है, उसकी कोई प्रत्यक्ष प्रक्रिया कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। बातूनी प्रतिपादन अब किसी के गले नहीं उतरते, क्योंकि अध्यात्म के नाम पर अत्युक्तिपूर्ण बातें इतनी अधिक कही जा चुकी हैं कि उन पर विश्वास करने का साहस किसी को भी नहीं होता।

इस अभाव की पूर्ति की जानी चाहिए। अध्यात्म को अपनाने से लौकिक जीवन कितना सफल और समुन्नत हो सकता है, इसे व्यवहार में प्रत्यक्ष करके दिखाया जाए, तभी इस महान विज्ञान की उपयोगिता लोग समझ सकेंगे और उसे अपनाने के लिए उत्साहपूर्वक अग्रसर हो सकेंगे।

आर्ष मान्यताओं के अध्यात्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और उसे पूजा-पाठ तक सीमित न रखकर मस्तिष्क की प्रत्येक विचारणा और क्रिया की प्रत्येक हलचल में कैसे ओत-प्रोत किया जाए, जिससे मानव जीवन स्वर्गीय विभूतियों से भरा-पूरा दिखाई देने लगे, यह प्रत्यक्षवाद के माध्यम से सिखाया-समझाया जाना चाहिए। इसके बिना वह अनास्था मिट न सकेगी जिसके कारण लोग इस महान तत्त्वज्ञान को निरुपयोगी समझकर उससे दूर हटते चले जा रहे हैं।

जिस प्रकार हम देशव्यापी अन्य समस्त विकृतियों के परिशोधन और अभावों की पूर्ति के लिए अनेकों प्रयत्न कर रहे हैं, उसी प्रकार यह भी आवश्यक है कि अध्यात्मवाद के वर्तमान विकृत स्वरूप को

हटाकर आर्ष अध्यात्मवाद का उज्ज्वल स्वरूप सर्वसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत किया जाए। निस्संदेह यह कठिन कार्य है, क्योंकि पिछले एक हजार वर्ष के अंधकार युग में विदेशी षड्यंत्र के अंग बनकर लोगों ने अध्यात्म के नाम पर इतना कूड़ा-कचरा जमा कर दिया है, जिसके नीचे हमारा प्राचीन आदर्श और प्रबुद्ध दर्शन एक प्रकार से दब ही गया है। भाग्यवाद, पलायनवाद, निराशावाद, उपेक्षावाद, पराधीनतावाद, अकर्मण्यतावाद, दीनता और जो कुछ बुरे से बुरा हो रहा हो उसे ईश्वर-इच्छा मानकर सहना-करना यही मुख्यतया अध्यात्मवाद के नाम पर कहा-सुना गया है।

क्षणभंगुरता, पग-पग पर मौत का भय दिखाकर व्यक्तिगत और सामूहिक कर्त्तव्यों को माया बताकर सब कुछ छोड़कर भजन करने की ही शिक्षा दी गई है। सुधार-संघर्ष और सेवा कार्यों को अहंकार बताया गया है और कहा गया है कि यह कार्य मनुष्य नहीं ईश्वर ही कर सकता है। इस प्रकार के विचारों के पीछे विदेशी शासकों के अत्याचारों को संतोषपूर्वक सहने की मनोभूमि प्रस्तुत करना ही एकमात्र उद्देश्य था। भावनाशील व्यक्तियों को उपेक्षावादी एकांतसेवी बनाकर ही तो जनता को नेतृत्वविहीन किया जा सकता था। जरा-जरा से छोटे-मोटे कर्मकांड करके पापों के फल से बच निकलने का प्रलोभन देकर जातीय जीवन में दुश्चरित्रता का प्रवेश हो सकता है और इसी प्रकार तो कोई जाति सामूहिक रूप से निस्तेज की जा सकती थी। एक ओर तलवार से और दूसरी ओर इस पलायनवादी दर्शन से भारतीय समाज को निरस्त किया। तभी तो इतने लंबे समय तक इतने बड़े जनसमूह पर मुट्ठी भर लोग इतना नृशंस शासन कर सकने में समर्थ हुए।

तथाकथित धर्माचार्यों को, संत-महंतों को इन्हीं दिनों पौ बारह करने के अवसर मिले। हर एक चतुर साधु बाबाजी ने अपने नाम के संप्रदाय खड़े किए और अपनी सिद्धि, चमत्कारों की किंवदंतियाँ फैलाईं। आश्चर्य यह होता है कि इन सिद्ध चमत्कारी संतों से किसी ने यह न कहा कि आप इतने समर्थवान हैं तो इस अत्याचारी शासन से छुटकारे का प्रबंध तो कर दीजिए। उन दिनों भोली जनता बुरी तरह

दिग्भ्रांत होती रही और अगणित प्रकार के अनध्यात्मवादी विचारों को अध्यात्म के नाम पर गले उतारती रही। आज भी परंपराओं की दुहाई देकर उसी अंधकार युग की भ्रांतियों को अध्यात्म माना जा रहा है। जुआ, सट्टा बताने वाले, नशेबाजी और मुफ्त का माल लूटने के लालची अंधविश्वासी आज भी अंधे-कोढ़ी की जोड़ी बने बैठे हैं और जहाँ-तहाँ उन्हीं के नाम पर अध्यात्मवाद की कूड़ा-गाड़ी लुढ़क रही है।

यह स्थिति निश्चित रूप से बदली जानी चाहिए। हमें उस प्रबुद्ध अध्यात्म की जानकारी जनसाधारण को करानी चाहिए जिसके स्पर्श मात्र से लोहे को पारस छूने की प्रतिक्रिया होती है। सच्चे अध्यात्म की मान्यताएँ और भावनाएँ मनुष्य में यदि थोड़ी सी भी प्रवेश कर सकें तो वह निश्चित रूप से संयमी, सदाचारी, प्रसन्न-चित्त, निर्भय, उदार और सद्गुणी बनेगा। जिसमें इन गुणों का प्रवेश हो सका वह जीवन के हर क्षेत्र में प्रगति करेगा और प्रस्तुत कठिनाइयों में से प्रत्येक को अपने पुरुषार्थ द्वारा परास्त करके निज की तथा समाज की सुख-शांति की संभावना अनेक गुनी बढ़ा सकने में समर्थ होगा। भारतीय व्यक्तित्व का स्तर और समाज का स्तर ऊँचा उठाने के लिए अध्यात्म की मान्यताओं को गहराई तक जनमानस में उतार देना ही एकमात्र उपाय हो सकता है। इससे पूर्व वर्तमान विकृतियों का परिशोधन कर आर्ष अध्यात्म का उज्ज्वल स्वरूप निखारकर लोगों के सामने रखना होगा। प्राचीन धर्मशास्त्र में वह सब कुछ मौजूद है, पर आवश्यकता इस बात की है कि उसे सुव्यवस्थित रूप से क्रमबद्ध किया जाए जिससे सर्वसाधारण के लिए उसकी उपयोगिता को समझ सकना संभव हो सके। साथ ही उसका प्रत्यक्ष स्वरूप भी प्रस्तुत करना होगा। आर्ष अध्यात्म के प्रशिक्षण प्रचार को व्यावहारिक स्वरूप देने वाले रचनात्मक कार्यक्रमों की व्यवस्था करनी होगी। अध्यात्म तत्त्वज्ञान की सेवा में ऋषियों के सारे जीवन लगते थे। वे जानते थे कि मानव-कल्याण का यही एकमात्र उपाय है। आज यदि हम में से भी कुछ लोग वर्तमान दुरवस्था को सुधारने और आर्ष अध्यात्म को उज्ज्वल रूप में प्रस्तुत

करने के लिए कुछ करने को कटिबद्ध हो तो निश्चय ही देश, धर्म, समाज और संस्कृति की भारी सेवा संभव हो सकेगी।

विज्ञान एवं बुद्धिवाद भूतकाल में भी रहा है। उसका स्वागत, समर्थन और उपयोग यथोचित रीति से किया गया है। पर यह ध्यान रखा गया है कि इस आग को स्वच्छंद न छोड़ा जाए, इसे ससीम रखा जाए और सदुपयोग के लिए ही प्रयुक्त किया जाए। आज की भूल यह हुई कि धर्म और अध्यात्म के इस अंकुश को तोड़ दिया गया जिससे कि भौतिक प्रगति के मदोन्मत्त गजराज को काबू में रखा जाता था और उससे शानदार प्रयोजनों को पूरा कराया जाता था। अब यह निरंकुश गजराज अपने-बिराने का बिना ध्यान रखे सब कुछ कुचल डालने के लिए आकुल-व्याकुल हो रहा है।

मनुष्य आखिर मनुष्य है, वह सहज ही मरण स्वीकार नहीं करेगा। भूल को समझना और सुधारना उसकी सहज प्रकृति है। आवेश में कई बार वह कुपथ पर भी चल लेता है, पर जब काँटे लगते हैं और मार्ग अवरुद्ध दीखता है तो लौटने में भी संकोच नहीं करता। अगले दिनों यही होने जा रहा है। निरंकुश विज्ञान ने अपना चमत्कार दिखा दिया और उसका परिणाम देख लिया। अब ज्ञान की पारी है। उसका प्रभाव भी अगले दिनों देखने को मिलेगा। बागी हाथी को पकड़ने के लिए प्रशिक्षित हाथी भेजे जाते हैं। भोगवादी, नास्तिकता समर्थक बुद्धिवाद को तत्त्वज्ञान के उन दिग्गजों द्वारा दबोचा जाएगा जो ऐसे आपत्तिकाल आने पर विसंगतियों का शमन करने के अभ्यस्त रहे हैं।

भौतिकवादी उच्छृंखल बुद्धिवाद की टक्कर में अगले ही दिनों आदर्शवादी तत्त्वज्ञान की सेनाएँ खड़ी होंगी। लगता है अगले ही दिनों एक प्रचंड तूफान ऐसे आंदोलन के रूप में खड़ा होगा जिसे पुराने धार्मिक या अध्यात्म के नाम से न सही, पुनूर्माण के अन्य किसी नाम से पुकारा जाए, किंतु आवश्यकता उसी प्रयोजन को पूरा करने की होगी। भारतीय संस्कृति के नाम से न सही विश्व संस्कृति या मानव संस्कृति के नाम से सही एक ऐसी पुनर्स्थापना अवश्य होगी कि

प्रस्तुत विषाक्तता का निराकरण हो सके। इस बिखरे हुए कालकूट को समेट कर अपने गले में भर लेने वाला कोई न कोई शिव अभियान अवश्य प्रकट होगा।

अंधकार कहीं से भी क्यों न फैलाया गया हो, प्रकाश की किरणें सदा पूर्व दिशा से ही उदय हुई हैं। भारत एक देश नहीं, मानवी संस्कृति का एक सेतु है। जिससे टकराकर प्रत्येक तूफान को पीछे लौटना पड़ा है। अगले दिनों मानवी गरिमा को विनाश के गर्त से उबारने के लिए भारत अपनी महती भूमिका संपादित करेगा। भारत अपने नवोदय के रूप में फिर उभरेगा और वह देश काल की समस्त सीमाओं को लाँघता हुआ विश्वव्यापी तपन को शांत करने वाली अमृत की बरसा करेगा।

यह विश्वास नहीं होता कि जो कुछ खो दिया गया वह पुनः प्राप्त न हो सकेगा। नवजागरण का प्रभात हमें यह आश्वासन देता प्रतीत होता है कि अंधकार के अब पैर जमे न रह सकेंगे। संसार को ज्योतिर्मय आलोक से लाभान्वित होने का अवसर फिर आ गया।

दूसरों के क्या अनुदान विश्वमानव को मिले, इसका लेखा-जोखा रखना अन्य लोगों का काम है। भारत की आत्मा सदा की भाँति इन विषम परिस्थितियों में मूक दर्शक न रहेगी, वह उभरेगी। भारतीय संस्कृति अगले दिनों विश्वसंस्कृति के उस रूप में उभरेगी जिसके आधार पर मनुष्य में देवत्व का उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण का स्वप्न साकार हो सकेगा। यही आर्ष अध्यात्म की शक्ति एवं सामर्थ्य है तथा यही उसकी प्रक्रिया एवं परिणति है। जन-जन में अनंत आत्मबल की गहन अनुभूति हो, यही अध्यात्म दृष्टिकोण की स्वाभाविक परिणति तथा विशेषता होती है। भारतीय संस्कृति की यही पहचान है।

❑❑❑